फणीश्वरनाथ रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य में लोक-चेतना के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

शोध निर्देशक
प्रो० रघुवंश
भूतपूर्व अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्ता
उमेश कुमार मिश्र

इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
1997

प्राक्कथन

लोक चेतना की अभिव्यक्ति का क्षेत्र लोक–जीवन होता है। लोक जीवन का व्यापक यथार्थ गाँवों में बिखरा पडा है। नगरो मे तो उसका अति सीमित एव कृत्रिम रूप प्राप्त है। स्वाधीनता–परवर्ती लोक–जीवन अनेकानेक कारणों से द्रुत गति से परिवर्तित हुआ है। वहाँ के बदले हुए परिवेश मे नई चेतना जन्म ले रही है। आज के सन्दर्भो में परिवर्तित लोक–जीवन की समूची वैचारिक और संवेदनात्मक मानसिकता को लोक चेतना कहा जा सकता है। इस चेतना मे पारम्परिकता भी है और नवीनता भी। लोक--जीवन के परिस्थितिगत जटिल यथार्थ और उससे उत्पन्न नयी मानसिकता को सश्लिष्ट अभिव्यक्ति देने के लिए स्वाधीनता परवर्ती काल में आँचलिक उपन्यासो का प्रादुर्भाव हुआ। रेणु और नागार्जुन ने मिथिलांचल के जीवन्त परिवेश, टूटते–दरकते–सम्बन्धों, बनते–बिगड़ते मूल्यों, अन्त बाह्य दबावो एव नाना सगति–विसंगतियो से साक्षात्कार कर उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान की है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में अभिव्यक्त लोक चेतना के अध्ययन की दिशा में विशेष ध्यान नही दिया गया है जो थोड़ा बहुत कार्य हुआ है उसमें मूलत इनकी नवीन विधागत ओपन्यासिक शक्ति और सीमाओं के आकलन पर बल दिया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का लक्ष्य रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मे लोक चेतना के विविध नये आयामों की खोज करना है। उचित सन्दर्भो में उनकी शक्ति और सीमाओं की ओर भी संकेत किया गया है।

शोध प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय मे लोक चेतना के स्वरूप उसके मूल स्रोत एवं प्रवाहशील रूप को विवेचित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में लोक चेतना के विविध आयाम को मिथिलाँचल के विशेष सन्दर्भ मे विवेचित किया गया है।

तृतीय अध्याय में साहित्य में लोक चेतना के विस्तार का विवेचन करने के पश्चात् साहित्य के विविध रूपो में, मुख्यत कथा–साहित्य में लोक चेतना के स्थान निर्धारण का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मे लोक चेतना के राजनीतिक आयाम को उद्‌घाटित किया गया है। स्वतंत्रता–परवर्ती राजनीतिक सन्दर्भ–बिन्दुओं मे स्वाधीनता, तात्कालिक युग–बोध, जमींदारी–उन्मूलन, चुनाव, विद्रोह वृत्ति आदि प्रमुख है। राजनीतिक चेतना की विविध आवर्तमयी स्थितियाँ इन विविध सन्दर्भो मे रूपायित हुई है। राजनीतिक चेतना से मिथिलांचल में नयी भावक्राति आयी है और उसके विविध स्तरों ने वहाँ के सामन्ती जीवन में विघटन उत्पन्न कर दिया है।

पंचम अध्याय में रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में लोक चेतना के सामाजिक आयाम का अध्ययन किया गया है। मिथिलांचल का सामाजिक जीवन बड़ी द्रुतगति से परिवर्तित हो रहा है। जीवन–मूल्यों का सक्रमण, सम्बन्धों का तनाव और विघटन, योन चेतना, विवाह और नारी, वर्ग चेतना आदि इसके प्रमुख उत्स है जिसके आधार पर उसे विवेचित एव विश्लेषित किया गया है। मिथिलांचल के गाँव की सामाजिकता एवं सामूहिकता नवीन भौतिकता प्रधान दृष्टि के उदय से नष्ट–भ्रष्ट होती जा रही है और अपने स्वरूप और संवेदनाओं मे नवीन भंगिमाएँ प्राप्त कर रही है।

षष्ठम् अध्याय में रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में लोक चेतना के आर्थिक आयाम का अध्ययन किया गया है। इसके अन्तर्गत उन आर्थिक स्थितियो एवं बिन्दुओं का अध्ययन किया गया है जिनसे मिथिलांचल के गाँव की आर्थिक चेतना प्रभावित एव परिचालित होती है। आर्थिक चेतना के प्रभावी सन्दर्भो में पंचवर्षीय योजनाएँ और विकास–कार्य, वेज्ञानिक उपलब्धियाँ, बेकारी, निर्धनता तथा भूमि की समस्याएँ एवं उनके समाधान प्रमुख हैं। **स्वाधीनता के पश्चात् विभिन्न विकास कार्यो ने गाँव को आर्थिक समृद्धि तथा तज्जन्य नवीन जीवनमान दिये हैं किन्तु साथ ही निम्न वर्ग में गरीबी और बेकारी का भयंकर प्रसार भी किया है। इस प्रकार धनी और गरीब के जीवन के बीच की विषमता बढ़ती ही गई है। मँहगाई ने समस्त ग्रामों को तोड़कर रख दिया। भूमि–सुधारों ने ग्रामीणों में नवीन मानसिकता का संचार किया है।**

सप्तम् अध्याय में रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मे लोक–चेतना के धार्मिक एवं सास्कृतिक आयाम का अध्ययन किया गया है।

मिथिलाँचल के गाँव का धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन नवीनताएँ प्राप्त कर रहा है। लोक धर्म के आयाम बदल रहे हे यद्यपि अध-विश्वास एवं अज्ञानजन्य अन्य संकल्पनाएँ आज भी मिथिलाँचल के लोक जीवन में विद्यमान है। भारतीय संस्कृति के मूल तत्व वहाँ के लोक जीवन में आज भी यत्किचित मात्रा में शेष है यद्यपि वहाँ नवीनता प्राचीनता से निरन्तर टकरा रही है। मिथिलांचल के लोक गीतों, लोक विश्वासों, लोक कथाओं, लोक नृत्यो, लोक नाट्यों आदि में युगीन प्रभाव परिलक्षित होता है।

अन्त में उपसहार है जिसके अन्तर्गत समस्त अध्यायों का निष्कर्ष एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

सर्वप्रथम में उन कृतिकारों ओर विद्वानों के प्रति आभारी हूँ जिसकी सर्जनात्मक ओर वेचारिक उपलब्धियों का उपयोग मेने इस कार्य में किया है।

शोध निर्देशक प्रो0 रघुवंश (भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद) के कुशल निर्देशन में समय-समय पर जो बहुमूल्य सुझाव मिला उससे मेरी सभी कठिनाइयाँ सरलता से दूर हो गयी। उनकी मुझ पर जो महती कृपा रही है उसके प्रति आभार व्यक्त करने मे भी मुझे सकोच होता है।

डॉ0 राम किशोर शर्मा (रीडर, हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के अनेक विध सहयोग के बिना मेरे लिए शोध प्रबन्ध का लेखन कार्य बड़ा ही जटिल और कठिन हो जाता। डा0 साहब ने आद्यान्त पग-पग पर अपने मोलिक सुझावों द्वारा मेरे कार्य को सुगम कर उसे गति और प्रोढ़ता प्रदान की है। उनकी सूझ-बूझ का लाभ उठाकर ही में अपने शोध प्रबन्ध को इस रूप मे प्रस्तुत कर सका हूँ अत उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मात्र औपचारिकता ही होगी।

अपने इस शोध प्रबन्ध के लिए अपेक्षित उपादान एकत्र करने में मुझे जिन प्रमुख पुस्तकालयों से सहायता उपलब्धता हुई उनमे सिन्हा लाइब्रेरी, पटना, राष्ट्रभाषा परिषद पुस्तकालय पटना, पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय पटना, जे0एन0यू0 लाइब्रेरी नई दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय नई दिल्ली, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, इलाहाबाद के नाम विशेष उल्लेखनीय है। अतएव उन पुस्तकालयो के अधिकारियो के प्रति में अपना हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

इस सन्दर्भ में मेरी सहधर्मिणी श्रीमती अमला मिश्र का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। शोध प्रबन्ध के लेखन कार्य के समय "गृह कारन नाना जंजाला" से मुक्त रखकर जो उन्होंने इसके लिए मुझे एकान्त अवसर प्रदान किया वह चिरस्मरणीय है। मुझे इस कार्य के निमित्त उत्प्रेरित न करती तो यह कार्य बहुत विलम्ब से सम्पन्न होता। यह तो उनका अपना कार्य है, एतदर्थ आभार प्रकट कर में उनके योगदान का अवमूल्यन नहीं करना चाहता।

में **श्री राकेश कुमार शुक्ल जी (शुभम् फोटो कापियर्स)** मनमोहन पार्क, कटरा, इलाहाबाद को हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरे शोध प्रबन्ध के टंकण कार्य में अथक परिश्रम एव लगन के साथ करके कार्य को अन्तिम रूप प्रदान किया।

अन्त मे मेरे जिन आत्मीय जनो एव मित्रों से इस सम्बन्ध में मुझे वांछित सहयोग प्राप्त हुआ है उन सबके प्रति में आभारी हूँ।

उमेश कुमार मिश्र

(उमेश कुमार मिश्र)
शोध छात्र
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

विषय–सूची

प्रथम अध्याय

क्रम सं0 | | पृष्ठ स0

लोक चेतना का स्वरूप, स्रोत एवं धारावाहिकता

खण्ड "क"

खण्ड "ख"

खण्ड "ग"

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

सप्तम अध्याय

*****

प्रथम अध्याय

लोक चेतना का स्वरूप, स्रोत एवं धारावाहिकता

खण्ड "क"

लोक चेतना का स्वरूप

(1) लोक का अर्थ

(1) भारतीय मत

(2) यूरोपीय मत

(2) चेतना का अर्थ

(3) लोक चेतना

*****

प्रथम अध्याय

लोक चेतना का स्वरूप, स्रोत एवं धारावाहिकता

खण्ड--क

लोक चेतना का स्वरूप

लोक चेतना शब्द लोक और चेतना इन दो शब्दो से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है लोक की चेतना। लोक चेतना का सम्यक विवेचन करने से पूर्व लोक शब्द का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

लोक का अर्थ

लोक शब्द अंग्रेजी शब्द फोक का पर्याय है। इस फोक के विषय में इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में बताया गया है कि आदिम समाज मे तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं। विस्तृत अर्थ में तो इस शब्द से सभ्य राष्ट्र की समस्त जनसख्या को भी अभिहित किया जा सकता है किन्तु सामान्य प्रयोग में इसका अर्थ सकुचित होकर केवल उन्हीं का ज्ञान कराता हे जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षा के प्रवाहो से मुख्यत. परे है जो निरक्षर है अथवा जिन्हें मामूली अक्षर ज्ञान है, ग्रामीण और गँवार।[1] लोक शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के "लोकृ दर्शने धातु से "धञ्" प्रत्यय लगाने से होती है।[2] लोकृ दर्शने का अर्थ है- देखना। इस धातु का लट् लकार मे अन्य पुरूष एक वचन का रूप "लोकते" होता है जिसका अर्थ हे, देखना है। इस प्रकार लोक शब्द का अर्थ "देखने वाला" अर्थात जो सब कुछ देखे समझे वही लोक हुआ।

कालान्तर में लोक शब्द का व्यवहार साधारण जनता के लिए होने लगा था। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग साधारण जनता के अर्थ में किया गया है। इसके अतिरिक्त साधारण जनता के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उपनिषदों, पाणिनी की अष्टाध्यायी तथा अन्य व्याकरण ग्रंथो एवं महाभारत आदि ग्रंथों में किया गया है। महाभारत में महर्षि व्यास ने अपनी शत-साहस्त्री संहिता की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है-

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विवेष्टित ।
ज्ञानांजन शलाकाभिर्नेत्रोन्मीलन कारकम्।।[3]

---

1 हिन्दी साहित्य कोश सं0 धीरेन्द्र वर्मा, भाग-1, पृ0-747

2 सिद्वान्त कौमुदी, पृ0-417

3 उद्धृत कर्त्ता डा0 वीरेन्द्र सिंह वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में लोक जीवन, पृ0-13

अर्थात् यह ग्रथ (महाभारत) अज्ञान रूपी अन्धकार से अन्ध, दु खी लोगो (साधारण जनता) की आँखो को ज्ञानरूपी अंजन की शलाका से खोल देता है।

इस प्रकार अत्यन्त प्राचीनकाल से ही लोक शब्द का व्यवहार साधारण जनता के लिए किया जाता रहा है।

लोक शब्द का अर्थ और अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ विद्वानों के निम्नलिखित विचार दृष्टव्य है।

भारतीय मत

भारतीय विद्वानों के मतानुसार "लोक" शब्द का अभिप्राय ऐसे जनसमुदाय से है जो प्राकृतिक परिवेश में रहता है तथा सुसंस्कृत एव सभ्य लोगो की अपेक्षा कम सस्कृत एव कम सभ्य होता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने "लोक" शब्द के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि लोक शब्द का अर्थ "जनपद" या "ग्राम्य" नही बल्कि नगरो और गांवों मे फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगो की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुए आवश्यक होती है उनको उत्पन्न करते है।[1] श्री इन्द्रदेव सिंह जी ने लोक शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है– लोक शबद की परिधि में वे ही लोग आते है जो नगर या शिष्ट समाज के प्रवाह और व्यवस्थित शिक्षा की सीमा के अन्तर्गत नही आ पाते हैं।[2] डा0 कृष्णदेव उपाध्याय जी ने प्राकृतिक परिवेश, परम्परा और अशिक्षा को प्रधानता देते हुए लिखा है– आधुनिक सभ्यता से दूर, अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली तथाकथित अशिक्षित एवं असस्कृत जनता को "लोक" कहते हैं– जिनका आचार–विचार एवं जीवन परम्परायुक्त नियमों से नियत्रित होता है।[3]

---

1 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी. "जनपद" वर्ष 1 अक 1 पृ0–65
2 श्री इन्द्रदेव सिंह लोक साहित्य स0 1971, पृ0–18
3 डा0 कृष्णदेव उपाध्याय लोक साहित्य की भूमिका च0स0 1986, पृ0–28

यूरोपीय मत

यूरोपीय विद्वानो ने "लोक" शब्द के लिए "फोक" शब्द का व्यवहार किया है। "फोक" शब्द की उत्पत्ति ऐग्लो सेक्सन शब्द "फोक" से मानी जाती है। इग्लेण्ड के प्रसिद्व पुरातत्ववेत्ता विलियम जान् टामस ने सन् 1848 ई0 मे "फोक" (लोक) शब्द का सर्वप्रथम निर्माण किया था।[1] डा0 वार्कर ने "फोक" शब्द का अभिप्राय ऐसी जाति से माना हे जो सभ्यता (नागर सभ्यता) से दूर रहती है। उन्होने फोक का अर्थ "असंस्कृत लोग" माना है।

इस प्रकार भारतीय एव यूरोपीय विद्वानो ने लोक शब्द का अभिप्राय ऐसे लोगो से लिया है जो प्राकृतिक परिवेश में रहते है या जो सभ्य लोगो से दूर रहते हैं तथा जिन्हें विधिवत शिक्षा नहीं मिल पाती है। अत वे कम संस्कृत एवं कम सभ्य होते हैं तथा जो परम्परायुक्त साधारण जीवन व्यतीत करते हैं।

कुछ भारतीय विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानो ने क्रमश "लोक" एवं "फोक" का अभिप्राय असंस्कृत लोगों से लगाया है इससे सहमत नही हुआ जा सकता है। साधारण लोग असस्कृत नहीं बल्कि अल्प संस्कृत होते है। उनमे सुसंस्कृत बनने का बीज निहित होता हे। यह बात अलग है कि उन्हे वह वातावरण नहीं मिल पाता है जिससे वह बीज प्रस्फुटित होकर अच्छी प्रकार से पल्लवित एव पुष्पित हो सके। जन साधारण सुनकर देखकर तथा समझकर सदैव शने शने अपना सस्कार करती रहती है लेकिन उस प्रक्रिया के बहुत मन्द होने के कारण वह पूर्णत. सुसस्कृत नहीं हो पाती है। साधारण व्यक्ति शिष्ट व्यक्तियों की अपेक्षा काम ज्ञानवान होते हैं ओर इसी आधार पर वे शिष्ट समाज से भिन्न समझे जाते है। इसी कारण लोक समाज ओर शिष्ट समाज की पृथक–पृथक सत्ता मानी जाती है। महाभारत में श्रीकृष्ण ने लोक ओर वेद के रूप में इन दोनों की पृथक –पृथक सत्ता मानी हे

अतोस्मि लोके वेदे व प्रथित पुरूषोत्तम ।[2]

अर्थात् मै लोक ओर वेद में पुरूषोत्तम नाम से प्रसिद्व हूँ।

---

1 मेरिया लीच डिक्सनरी आफ फोक लोर भाग-1, पृ0–403
उद्धृतकर्ता डा0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका

2 महाभारत सभा पर्व (धूत पर्व) गीत प्रेस सस्करण पृ0 845–914

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि "लोक" शब्द ऐसे जन–समूह का बोध कराता है जो प्राकृतिक परिवेश मे रहकर अकृत्रिम जीवन व्यतीत करता है जिसकी जीवन–शैली अत्यन्त साधारण होती है जिसे विधिवत शिक्षा नही मिल पाती है जिससे उसका पूर्व सस्कार नही हो पाता है। जो शिष्ट लोगों की सुकुमारिता एव विलासिता का आधार होता है तथा जो परम्परायुक्त नियमो से बद्ध जीवन व्यतीत करता है।

निष्कर्षत· "लोक" शब्द का अभिप्राय ऐसे लोगो से है जिनका बौद्धिक विकास समुन्नत न हो तथा जो प्राकृतिक परिवेश मे रहकर अक्रत्रिम एव सरल जीवन व्यतीत करते है और जो अपनी प्राचीन संस्कृति के पोषक एव रक्षक होते है।

चेतना का अर्थ

लोक के सम्यक विवेचन के पश्चात चेतना का विवेचन अपेक्षित है। चेतना वस्तुत विविध इन्द्रियो को प्रभावित करके एक निश्चित प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न करती है। -इसे मनुष्य मे निहित वस्तुगत यथार्थ का सर्वोत्कृष्ट प्रतिरूप माना जाता है। यह उन मानसिक क्रियाओं का समग्र रूप है जो वस्तुगत विश्व के साथ अपने को सक्रिय रूप मे समझने मे सहायक होती है। चेतना में व्यक्ति के ज्ञात और अज्ञात स्वरूपों का बोध निहित रहता है। इसीलिए यह व्यापक अर्थो में प्रचलित है।"रिचर्ड मोरिस व्यूक" ने उच्च स्तरीय चेतना पर विचार करते हुए इसके तीन स्तरो का उल्लेख किया है। सामान्य चेतना, आत्मचेतना और उच्च स्तरीय चेतना पुनरावृत्ति है! सामान्य चेतना पशु जगत् के उच्च स्वरूपो में पाई जाती है। इसी चेतना के कारण कुत्ता या घोड़ा सामान्य वस्तुओ के प्रति उसी रूप मे चेतन्य रहता है जिस रूप मे व्यक्ति। आत्म चेतना सामान्य चेतना से उत्कृष्ट होती है। इसके माध्यम से व्यक्ति केवल वाह्य उपादानो के प्रति ही सतर्क नही रहता, अपनी विशिष्टता और वेयक्तिकता के प्रति भी जागरूक रहता है। उच्च स्तरीय चेतना सामान्य चेतना और आत्म चेतना दोनों से उत्कृष्ट, व्यापक और सर्वभुक् होती है। इस प्रकार की चेतना के द्वारा हम ब्रह्माण्ड और उसमे निहित जीवन और जगत् से परिचित होते हैं। उच्च स्तरीय चेतना निरन्तर विकसित होती रहती है।"[1]

---

1 उद्धृतकर्त्ता– डा0 सच्चिदानन्द राय हिन्दी उपन्यास सास्कृतिक एव मानवतावादी चेतना, पृ0–46

चेतना की प्रमुख विशेषताए है– निरन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह, इस प्रवाह के साथ–साथ विभिन्न अवस्थाओ मे एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य।[1]

लोक चेतना

साधारण जनता की समूची संवेदनात्मक और वेचारिक मानसिकता, सम्बन्ध और मूल्य–बोध को लोक चेतना कहा जा सकता है। साधारण जनता के सम्पूर्ण संस्कारो, गतिविधियो, सोचने के ढंगों, क्रियाकलापों, कलात्मक प्रयासो, धार्मिक–सास्कृतिक क्रियाओ आदि के पीछे जो चेतना काम करती है वह लोक चेतना ही है। यह चेतना किसी से अभिभूत नही है अप्रभावित निष्कलुष। अपने अच्छे बुरे रूप मे जेसी है वेसी ही प्रस्तुत भी होती है। न जाने कितने युगों से एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी को दाय स्वरूप मे प्राप्त यह चेतना लोक जीवन की सही पहचान है।[2] मानव ने जन्म लेते ही अपनी आदिम अवस्था में जो मानसिक उपलब्धियां प्राप्त की वे उसकी सहज मानवीय प्रकृति बन गयी। वे ही उत्तराधिकार के रूप में मानव–मानव मे अवतरित होती चली जाती है। इस प्रकार लोक चेतना परम्परा के प्रवाह में आये हुए आदिम अवशेषा को अपने मे समाहित किये हुए सहज रूप में अभिव्यक्त होती है। इसमें एक ओर आदिम मानव की मूल प्रवृत्तियो के दर्शन होगे तो दूसरी ओर विभिन्न सामयिक युगीन परिस्थितियो के। क्योकि परम्परा में रहने से इन अवशेषो पर उनका प्रभाव भी पड़ता है। लोक चेतना के मूल स्वरूप की पहचान हेतु आदिम समाज को समझना जरूरी हो जाता है क्योकि लोक चेतना का मूल स्वरूप आदिम समाज में ही सुरक्षित मिलता है।

---

1 हिन्दी साहित्य कोश भाग–1, पृ0–247
स0 धीरेन्द्र वर्मा

2 डा0 ऊषा डोगरा हिन्दी के आंचलिक उपन्यासो का लोकतात्विक विमर्श, पृ0–182

खण्ड "ख"

लोक चेतना का स्रोतः आदिम समाज

(1) आदिम प्रवृत्तियाँ और आदिम जीवन में उसकी अभिव्यक्ति

(1) कर्मकाण्ड और अनुष्ठान
(2) टोना-टोटका
(3) आदिम अधविश्वास
(4) जादू-धर्म
(5) टोटेम
(6) आदिम कलाएँ

1 नृत्य
2 सगीत एव वाद्य
3 चित्रकला

(7) भाषा

*****

लोक चेतना का स्रोत आदिम समाज

समस्त मानव प्रकृति की एकरूपता ही आदिम मानव की मूल प्रवृत्ति थी। एक से कार्य, एक सी संवेदनाएं, एक सी चेष्टाए एक से रागात्मक सम्बन्ध इत्यादि उनकी विशेषता थी। आदिम मानव सामूहिक रूप से प्रकृति के गोद में उन्मुक्त विचरण करता था। उसका जीवन शरीर यात्रा जारी रखने के लिए श्रम करने में ही खर्च हो जाता था। इस समाज मे प्रत्येक मनुष्य को शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु श्रम करना पडता था। जीवन यापन हेतु आदिम मानव सम्पूर्ण रूप से भोगोलिक तथा प्राकृतिक साधनो पर अवलम्बित रहता था। आदिम समाज मे सम्पत्ति सामूहिक होती थी। आदिम मानव के पास साधन कम थे इसलिए उसे अपनी बढती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति से अधिक समाज पर आश्रित रहना पडता था। इस प्रकार आदिम मानव स्वतंत्र, स्वछन्द एव समानता पर आधारित सामूहिक जीवन व्यतीत करता था।

आदिम प्रवृत्तियाँ और आदिम जीवन में उसकी अभिव्यक्ति

आदिम मानव की मूल प्रवृत्तिया है– उसका विवेकपूर्वी होना, रहस्यशील होना, अश और समग्र रूप मे भेद करने मे असमर्थ होना, नाम को व्यक्ति से अभिन्न मानना, तुल्य और तुल्यनीय को एक रूप मानना, विशेष विधे अनुष्ठान से बलात अभिष्ट की सिद्दि निश्चित मानना, दल के अस्तित्व में विश्वास रखना एव प्रत्येक कार्य मे प्राकृतिक व्यापार मे अपने लिए अर्थ ग्रहण करना।"[1]

आदिम मानव विवेकपूर्वी और रहस्यशील होता है। लेवी बुह्ल की इस मान्यता को फ्रेजर ने "गार्डन शीब्स" में स्वीकार किया गया है जिसका उल्लेख डा0 सत्येन्द्र ने लोक साहित्य विज्ञान मे किया है।[2]

कर्मकाण्ड और अनुष्ठान

रति और भय के दो मूल सहज भाव आदिम मानस मे अपने जन्म से आये। रति ने तो अनुष्ठानो का रूप खडा किया और भय ने निषेध का। प्रसन्न होकर आदिम मानव ने अनेक अनुष्ठानों का रूप खड़ा किया। साथ ही उसकी प्रसन्नता मे

---

1 डा0 सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ0 43–50

2 डा0 सत्येन्द्र . लोक साहित्य विज्ञान, पृ0–9

किसी प्रकार की बाधा न हो इस भय से उसने अनेक एसे अन्य आचारों को प्रस्तुत किया जिनमें टोने–टोटको का विशेष स्थान है। आदिम मानव का जीवन अनिश्चितताओ से भरा था। शिकार मिलेगा अथवा नहीं? खाद्य सकलित हो पायेगा अथवा नहीं? वर्षा, बाढ, आधी, तूफान के रूप मे प्रकृति की क्रूरता का भी उसे मुकाबला करना पड़ता था। इस अवस्था में मनुष्य के जीवन के दो पक्ष थे। पहला पक्ष तो वह था जिसका वह अनुभव करता था, जिसे वह देख सकता था। अपनी देखने, सुनने, समझने की क्षमता से आदिम मानव ने मानव, प्रकृति और जानवरों के व्यवहार की व्याख्या करने की चेष्टा की। स्वप्न, मृत्यु, महामारी, वर्षा, तूफान और बाद आदि कुछ ऐसी घटनाए थी जिनकी व्याख्या वह अपने देखने सुनने की क्षमता के द्वारा नही कर सकता था। कार्य–कारण के आधुनिक सम्बन्धों से वह अपरिचित था। उस असमर्थता, अनिश्चय और असुरक्षा के बीच से जो मानवीय कल्पनाए एवं विश्वास उत्पन्न हुए उनसे ही कर्मकाण्ड ओर अनुष्ठानो की उत्पत्ति हुई। आदिम मनुष्य का मानसिक सामाजिक ओर भौगोलिक दायरा सीमित था। जीवन नित्य प्रति की आवश्यकताओ तक सीमित था। इन आवश्यकताओ की पूर्ति की चेष्टा मे ही अत्यन्त व्यावहारिक ढंग से आदिम मनुष्य ने अपने विश्वासो एवं कर्मकाण्डों की पद्वति भी विकसित की।

टोना–टोटका

आदिम मानव में यह दृढ आस्था होती है कि तुल्य से तुल्य प्रभावित होता है, अश से अशी प्रभावित होता है, अर्थात् यदि व्यक्ति विशेष के शरीर का कोई अश उसकी कोई वस्तु आदि कुछ भी मिल जाये तो उसके माध्यम से उस व्यक्ति विशेष को प्रभावित किया जा सकता है। इस वृत्ति ने टोने–टोटको का रूप धारण किया। आदिम मानव द्वारा कारण–विशेष से किये गये अनुष्ठान उसकी अभिष्ट कार्य सिद्वि के माध्यम हे। मन्त्र–तन्त्र आदि की उद्भावना भी यही से होती हे। इनके पीछे भी कार्य सिद्वि का ही ध्येय होता है। "आदिम जातियों का यह अटूट विश्वास है कि किसी रोग का कारण केवल टोना हुआ करता है। अत उनके समाज में जब कोई बीमार पडता हे तब उसकी डाक्टरी दवा न कराकर झाड फूँक से उस रोग को दूर करने का प्रयास किया जाता हे।"[1] किसी रोग की शान्ति के लिए अथवा किसी सक्रामक बीमारी के बहिर्निष्कासन के लिए जो अनेक प्रकार के विधि–विधान किये जाते हे उन्हें टोटका कहा जाता है। टोटका की क्रिया मे तर्क बुद्वि का अभाव पाया जाता है और यह शुद्व अंधविश्वास पर आश्रित होता है।[2] कुछ विद्वानों का मत है कि टोने या टोटके कोई अलग शब्द नही है बल्कि एक

---

1 डा0 कृष्णदेव उपाध्याय लोक सस्कृति की रूपरेखा, पृ0–220

2 डा0 कृष्णदेव उपाध्याय लोक सस्कृति की रूपरेखा, पृ0–227

दूसरे के पर्याय है पर यह मत एकदम ठीक प्रतीत नही होता। "टोटके मुख्यत मगल सूचक, अनिष्ट– निवारक रोग–निवारक या टोने के बचाव के लिए किये जाते है, इसलिए टोटके स्त्रियो में बहुत लोकप्रिय है। इसके विपरीत टोना अमगल सूचक, रोग उत्पादक, मारण, उच्चाटन, अनुचित आकर्षण, सम्मोहन, वशीकरण आदि के लिए किया जाता है जिससे यदि व्यक्ति विशेष की मनोकामना पूरी होती है तो किसी को हानि भी पहुँचती हे और प्रयोग में निश्चय ही किसी निरीह पशु या जीव का वध भी होता हे टोटके और टोनों मे एक मुख्य अनतर यह भी है कि टोटके में किसी शास्त्रीय पद्वति की जरूरत नही होती और न उसमे किसी मत्र की आवश्यकता हे किन्तु टोने मे निश्चय ही पूरी–पूरी शास्त्रीय पद्वति काम में लायी जाती है। मत्र उच्चार से लेकर अनुष्ठान और बलिदान तक सब कुछ।"[1] आदिम मानव की यह एक मुख्य प्रवृत्ति थी कि विशेष विधि अनुष्ठान से वे अभीष्ट सिद्वि करा सकते हैं। इस मन स्थिति ने व्रतो, उत्सवों को जन्म दिया। विशिष्ट फल की कामना से विशिष्ट व्रतो की उद्भावना हुई। मंत्र, तंत्र और टोने भी इसके परिणाम है।

आदिम अंध विश्वास :

आदिम मानव व्यक्ति के अस्तित्व को न मानकर दल के अस्तित्व में विश्वास रखता था। आदिम मानव की इस प्रवृत्ति ने विभिन्न अधविश्वास के रूप खडे किये। आदिम मानव नाम से व्यक्ति को अभिन्न समझता था। आदिम जातियों का विश्वास था कि बड़ों का नाम लेने पर उन व्यक्तियो का अपमान होता हे इसलिए वे बड़ो का नाम नहीं लेती थी। आदिम युग मे इस प्रथा का रूप बहुत व्यापक था। राजाओं और सरदारो के नाम भी नही लिऐ जाते थे। मरे हुए के भी नाम नही लिये जाते थे। नारी वर्ग के लिए इस प्रथा का जोर अधिक था। पत्नी या मरे हुए के नामो के बहिष्कार के साथ उन नामो वाले पशु–पक्षियों के नाम भी बदल दिये जाते थे। उन्ही से वह अपने लिए अर्थ ग्रहण करता था। शकुन–अपशकुन की उद्भावना यही से हुई। आदिम मानव कार्य–कारण के यथार्थ क्रम से अनभिज्ञ होने के कारण सयोग को अधिक महत्व देता था। उसकी इस वृत्ति ने भी अन्ध विश्वासों को जन्म दिया।

जादू–धर्म .

अज्ञात और अदृश्य को जानने और समझने की जिज्ञासा आदिम मानव मे भी थी। आदिम मानव एक ऐसी अज्ञात शक्ति मे विश्वास करता था जो सर्वशक्तिमान

---

1 सम्मेलन पत्रिका लोक संस्कृति अक
श्री जनार्दन मुक्तिदूत · लोक जीवन में टोन और टोटके की मान्यता
पृ0–455–56

है जो सभव–असभव सब कार्य कर सकती है। प्रसन्न होने पर वह मनचाही वस्तु दे सकती है और रूष्ट होने पर हानि भी पहुँचा सकती है। यह अज्ञात शक्ति समस्त प्राकृतिक व्यापारों की संचालक है। अज्ञात शक्ति ने देवी–देवताओ का रूप धारण किया। "आदिम मानव ने अपने मानस में जिस देवता की सज्ञा दी है वह उसके चमत्कारो से प्रभावित हुआ है।"[1] आदिम मानव को रहस्यशील कहा गया है। वह प्राण को भी मूर्त वस्तु से सदृश्य समझता था जिसका वह आदान प्रदान कर सकता है।

आदिम मानव प्रकृति से अपने को भिन्न समझने मे असमर्थ था। उन्हीं से वह अपने लिए अर्थ ग्रहण करता था। शकुन–अपशकुन की उद्‌भावना यही से हुई। सर्वप्रथम आदिम मानव का प्रकृति से सम्पर्क हुआ। उसके मन मे जो भाव उदय होते थे उनका आभास वह प्रकृति में भी देखने लगता था और प्रकृति के साथ चेतनात्मक सत्ता स्थापित कर उसको सजीव रूप में देखता था। जड और चेतन मे भेद करने मे असमर्थ होने के परिणामस्वरूप मानवीकरण की प्रवृत्ति ने जन्म लिया। आदिम मानव प्रत्येक वस्तु को समान धर्म वाली समझता है। उसकी दृष्टि से सूर्य, चन्द्र, देवतागण, पशु–पक्षी सभी उसी के सदृश्य कार्य करते हैं। सूर्य को निकलते देखता है, आकाश मे चढते देखता है और डूबते देखता है तो उसे अपनी तरह ही आते जाते समझता है एवं उसे यथार्थ ज्ञान मानता है।

प्रकृति के प्रत्येक व्यापार को उसने रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखा और उसमे परा प्राकृतिक शक्ति को व्याप्त देखा। प्रकृति के प्रति उसमे श्रृद्धा का भाव जाग्रत हुए। तत्पश्चात उसे प्रत्येक प्राकृतिक व्यापार अपने ही समान धर्म वाला प्रतीत होने लगा। प्रकृति को भी उसने मानवीय सस्कारो से युक्त देखा। उसमे यह जिज्ञासा का भाव जाग्रत हुआ कि वस्तुत ऐसी कोन सी शक्ति है जिनकी प्रेरणा से ये सब कार्य होते हैं। आदिम मानव ने प्रकृति की उत्पादिका शक्ति मे विश्वास किया और इस भावना को उसने अपने अन्दर भी अनुभव किया फलस्वरूप उसने प्रकृति, पराप्रकृति और पुरूष में एक साम्य की अनुभूति की। यही से देवताओ की कल्पना की गयी।

स्वप्न संसार आदिम मानव के लिए उतना ही सत्य था जितना उसका अपना जाग्रत ससार। स्वप्न मे किये गये कार्यो का उतना ही महत्व था जितना वह चेतनावस्था मे करता था। स्वप्न मे यदि कोई ऐसा कार्य कर बेठे जिससे उसे यह अनुभव हो कि उसे पाश्चाताप करना चाहिए तो वह जाग्रत अवस्था में उसका पाश्चाताप करता

---

1 डा0 सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन पृ0–496

था।

आदिम मानव मृत व्यक्ति को सोये हुए व्यक्ति क सदृश्य ही समझता था। इसी से उसके शव के साथ आवश्यक सामग्री रखने की व्यवस्था की गयी। टाइलर और स्पेसर के अनुसार आदिम मनुष्य के विचार मे आत्मा क अस्तित्व का विश्वास मृत्यु और स्वप्न से सम्बन्धित उनकी कल्पना से आया। उनके अनुसार आदिम मनुष्य के जीवन मे आत्मा की अवधारणा के कारण धर्म की उत्पत्ति हुई।[1]

टाइलर के अनुसार आदिम मनुष्य का विश्वास था कि आदमी के शरीर मे आत्मा है जो निद्रा की अवस्था मे बाहर चली जाती है। जागने पर आत्मा शरीर में वापस चली आती है। आदिम मनुष्य के अनुसार जब आत्मा शरीर मे वापस लोट कर नही आती है तो वह मृत्यु की स्थिति है।इस स्थिति के बाद भी आदिम मनुष्य अपने सम्बन्धियो के मृत शरीर को इस आशा में रखे रहता था कि सभव है कि आत्मा वापस आ जाए। आदिम मनुष्य के जीवन मे एक ओर तो उपलब्धिया थी जैसे शिकार और खाद्य सकलन की यथेष्ट मात्रा और दूसरी ओर निराशाए भी थी। उनका विश्वास था कि मृतक सम्बन्धियो और पूर्वजों की आत्मा यदि सुखी और सतुष्ट है तो उनके जीवन मे भी सुख होगा। यदि पूर्वजों की आत्मा दु खी और असंतुष्ट हे तो वह भी दुखी रहेगा। मृतक आत्मा की धारणा से आदिम मनुष्य मे विश्वास और पूर्वजो की आत्मा के सतोष के लिए किये गये कार्यो से कर्मकाण्ड और अनुष्ठानो की उत्पत्ति हुई।[2]

स्पेसर[3] आदिम मनुष्य के विश्वासों की उत्पत्ति के मूल में उसके स्वप्नो का हाथ मानते है। स्वप्नों का कारण आदिम मनुष्य पूर्वजो की आत्मा और भूत प्रेतों से जोड़ता था।इनसे आधिभौतिकसत्ता का विश्वास विकसित हुआ। "आरम्भ मे यह आत्मा सम्बन्धी विश्वास और उसका अस्तित्व उसके अपने पूर्वजों तक ही सीमित था जबकि उसकी यह धारणा थी कि उसके पूर्वजों की मृत्यु के बाद उसका जीव प्रेतात्मा या देवात्मा के रूप में भ्रमण करता रहता है। बाद मे इसी भावना का विस्तार हुआ और समस्त प्राणी जगत मे जीव की अवस्थिति का अनुमान लगाया जाने लगा।"[3]

जादू धर्म के क्षेत्र में फ्रेजर का उल्लेख आवश्यक है। फ्रेजर के अनुसार आदिम मनुष्य का प्रकृति से निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। कभी वह प्रकृति को नियंत्रित

---

1 प्रो0 सत्यमित्र दुबे · समाजशास्त्र· एक परिचय, पृ0–186

2 प्रो0सत्यमित्र दुबे. समाजशास्त्र एक परिचय पृ0–186

3 श्यामाचरण दुबे मानव और संस्कृति, पृ0–142

करने मे सफल हो जाता था और कभी वह उससे पराजित हो जाता था। प्रकृति को नियत्रित करने के लिए जिन मंत्रों और विधियो को आदिम मनुष्य ने विकसित किया, फ्रेजर उन्हे जादू कहते है। अपनी पुस्तक "गोल्डन बाउ" मे जादू का विश्लेषण करते हुए उन्होने इसे दो मुख्य भागों मे विभाजित किया है। यह विभाजन दो मुख्य कसौटियों पर आधारित है। समान का समान प्रभाव (कार्य-कारण का सम्बन्ध) और सम्पर्क का प्रभाव।

समान का समान प्रभाव का नियम इस धारणा पर आधारित है कि जब एक प्रकार की जादू-क्रिया की जाती है तब लक्ष्य पर उसका परिणाम भी समानधर्मी होता है। आस्ट्रिया में यह विश्वास प्रचलित है कि यदि प्रसवा माँ को किसी वृक्ष का प्रथम फल खाने को दिया जाये तो उस वृक्ष पर आगत वर्ष में काफी फल आयेगे।[1]

सम्पर्क का प्रभाव नियम इस धारणा पर आधारित है कि यदि किसी वस्तु का किसी से सम्पर्क है या रहा है तो यह समझा जाता है कि सम्पर्क मे आयी हुई वस्तु पर जादू क्रियाएं करने से उसके धारण कर्त्ता पर क्रिया का प्रभाव पड़ेगा। चेरोकी समाज[2] मे शिशु की नाल को विशेष स्थलों पर रखने का कारण है। वे कन्या ही नाल को काटने के बाद अनाज की कोठी के नीचे गाड़ देते है ताकि वह बड़ी होने के बाद अच्छा भोजन पका सके। इसी प्रकार पुत्र की नाल को पेड पर टांग दिया जाता है, जिससे वह कुशल आखेटक बन सके। इस प्रकार के विश्वासो का आदिम समाज मे व्यापक प्रसार है।

फ्रेजर का मत है कि मनुष्य जब अदृश्य शक्तियो को अभिचारो और मत्रो द्वारा अपने नियत्रण मे करने के प्रयासो मे विफल हो जाता है और ये प्रयास स्वय उसे ही निरर्थक व व्यर्थ दिखायी पड़ते है तब वह इन शक्तियो के महत्व को स्वीकार कर लेता है, उनके वशीभूत हो जाता है। तब इन शक्तियो को आदेश देने के स्थान पर वह प्रार्थना द्वारा इनका कृपापात्र बनना चाहता है। जब आदेश का स्थान प्रार्थना और विनय लेने लगते हैं तब धर्म का उदय होता है। इस धारणा के दो मुख्य तत्व है

1 मानव से उच्च शक्तियो मे आस्था

2 आराधना द्वारा इन शक्तियों को प्रसन्न करने का प्रयत्न।

---

1 श्यामाचरण दूबे मानव और सस्कृति, पृ0-139

प्रथम धर्म का सैद्वान्तिक पक्ष है, द्वितीय व्यवहारिक। दोनो पक्षो की समान उपस्थिति ही वास्तविक धर्म को जन्म देती है। प्रकृति के अपरिवर्तनशील नियमों को थोड़ा बहुत परिवर्तित करने की अपनी सामर्थ्य को आराधक ईश्वर पर छोड देता हे ओर अपेक्षा करता है किवह प्रार्थना द्वारा ईश्वर को मनाकर अपरिवर्तित वस्तुओ मे इच्छित परिवर्तन ला सकेगा।

मानव ओर मानव एव मानव ओर प्रकृति के बीच की अन्त क्रियाओ का निर्धारण मानव और अदृश्य जगत् के सम्बन्धों पर भी निर्भर करता है। आदिम मानव प्रकृति को मानव रूप में ही देखता था और उसमे मानवीय गुणो का आरोप करता था। वे समझते थे कि जेसे पुरूष और नारी के संयोग और भोग से सन्तानोत्पत्ति होती हे, उसी प्रकार वनस्पति ओर वनदेवियों के संयोग और भोग से शस्योत्पादन होता है। उनका यह विश्वास था कि फल–पत्तियो से ढ़क कर पुरूष और नारी सभाग करेगे तो खेत भी पौधो स लहलहाते रहेगे।

प्रकृति पर मानव भावनाओ के आरोप के सम्बन्ध में श्री स्वाण्टन[1] ने लिखा है कि उत्तर अमरीका के त्लिंगित इंडियन सूर्य, चन्द्र, वायु ,पर्वत, जलाशय आदि को प्रभावित करने के लिए मनुष्यों की भाँति उन्हे सबोधित करते हे ओर उनसे सौभाग्य प्रदान करने की प्रार्थना करते है। आस्ट्रेलिया के बुशमेन वर्षा मे भी पुरूष और नारी का विभेद करते है– जोर की वर्षा पुरूष वर्षा हे और धीमी वर्षा नारी वर्षा है। इसलिए उनका विश्वास है कि मनुष्य की तरह ही उनसे आचरण करना चाहिए।

प्राकृतिक शक्तियो पर मानवोचित गुणो के आरोप के कारण, वे यह भी समझते थे कि उन्हें भेट चढाकर तुष्ट किया जा सकता हे ओर डरा धमकाकर भी उनसे काम लिया जा सकता है। प्रकृति के प्रति उन प्रयोगों को एक जादू कहा जा सकता हे। आदिम कल्पना के अनुसार जादू के द्वारा वेध की चिकित्सा से ही रोगी आरोग्य लाभ कर सकता है। आहार सामग्री प्राप्त करने के लिए ही जादू का अधिकाश रूप से प्रयोग किया जाता है। ब्रिटिश कोलम्बिया का इंडियन सम्प्रदाय आस–पास की नदियो तथा समुद्र की मछलियो पर ही अपनी जीविका के लिए मुख्यत निर्भर रहता हे। जब मछलियां समय पर नही आती ओर वे भूखे रह जाते हे तो कोई नूटका आझा तेरती मछली की एक प्रतिमूर्ति बनाकर नदी मे उस दिशा से उसे छोड देता है जिस दिशा से वे साधारणतया आती हे। इस प्रक्रिया के साथ मछली की प्रार्थना की जाती है ताकि वे आने लगे।[2] आदिम जातियो

---

1 श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल आदिम मानव समाज, पृ0–93

2 श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल आदिम मानव समाज, पृ0–95

मे जादू के इस महत्व के कारण आदिम समाज मे जादूगर को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता था और उनके मुखिया प्राय जादूगर ही होते थे।

आदिम जातियो को जादू से जितना भय था उतना और किसी चीज से नही और आज भी जहाँ वे है यही संशय करते है कि अपरिचित व्यक्ति जब किसी कबीले के अन्दर प्रवेश करता है तो पहले उसकी शुद्धि की जाती है। इस शुद्धि की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाए होती है। कहीं-कहीं उन्हे मन्दिरो का दर्शन कराया जाता है और बोर्नियो द्वीप में भैस की बलि के लिए उनसे पैसे लिए जाते है।[1] मदागास्कार द्वीप की जाफिमानेलो उपजाति बन्द दरवाजे के अन्दर खाती-पीती है, इसलिए कि मुँह खोलकर खाते समय आत्मा कहीं शरीर से निकलकर भाग न जाय।[2]

टोटम

आदिम जातियों में धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं की पूर्ति जिस प्रथा से होती है उसे टोटेम कहते है। टोटेमिज्म की प्रथा ससार के प्राय सभी देशों में पाई जाती है। जो जाति अपनी सभ्यता के विकास में जितनी ही अधिक प्रारम्भिक युग में होगी उसमे उतने ही अधिक टोटेम उपलब्ध होते है।

"टोटेम" भौतिक पदार्थो के उस समुदाय को कहते है, जिसे गिरि-जन और वन-जन (जगल मे निवास करने वाली जातियाँ) अन्ध विश्वास युक्त श्रृद्धा से देखती है तथा यह विश्वास करती है कि उस जाति के सदस्यो मे तथा भौतिक पदार्थ की प्रत्येक वस्तु मे आपस मे एक घनिष्ठ सम्बन्ध है।[3] "फेटिश" और "टोटेम" में यह अन्तर है कि "टोटेम" किसी अकेली वस्तु को नही कह सकते, बल्कि वह सदा अनेक वस्तुओ का समुदाय होता है। यह समुदाय प्राय पशुओं, वृक्षो और पौधों का हुआ करता है। यह कभी निर्जीव वस्तुओं का समुदाय नहीं होता। कृत्रिम वस्तुओं का समूह टोटेम के रूप मे बहुत कम माना जाता है।[4] "फेटिश" कोई एक वस्तु होती है जो प्राय. निर्जीव हुआ

1,2 श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल आदिम मानव समाज पृ0-98

3 डा0 जेम्स फ्रेजर- टोटेमिज्म, भाग-1, पृ0-1
उद्धृतकर्ता- डा0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा

4 डा0 विलियम क्रुक पापुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर आफ नादर्न इण्डिया भाग -2 पृ0-146
उद्धृतकर्ता- डा0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा

करती है। लोगो का यह विश्वास है कि इस वस्तु (फेटिश) में कोई अलोकिक शक्ति होती है जिसके द्वारा रोग तथा आधि और व्याधि को दूर किया जा सकता है।[1]

टोटेमिज्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हरबर्ट स्पेन्सर का विचार है कि जगली जातियो मे सर्वप्रथम अपना नाम प्राकृतिक पदार्थो से ग्रहण किया। इसके पश्चात इन पदार्थो के नामों को अपने पूर्वजों के नामो से मिलाकर अथवा उनसे तादात्म्य स्थापित कर इन प्राकृतिक पदार्थो का भी उतना ही आदर करने लगे जितना अपने पूर्वजों का किया करते थे।[2] विलियम क्रुक की यह धारणा है कि सभ्यता के प्रारम्भिक युग में मनुष्य और पशुओं मे पारस्परिक संबंध की कल्पना स्पष्ट ही होगी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि पशुओ और पोधों मे भी उसी प्रकार आत्मा या जीव पाया जाता है जिस प्रकार मनुष्यो मे।[3]

सोफिया बर्न के अनुसार टोटेमिज्म की साधारणतया तीन विशेषताएं हैं–[4]

1 मनुष्यो का समुदाय सामान्यतया अपने "टोटेम' के द्वारा ही अभिहित किया जाता है। उदाहरण के लिए जो लोग अपनी उत्पतित कछुआ (कच्छप) से मानते है वे लोग अपने को "कछवाहा" कहते हे। साधारणतया इस समुदाय अथवा जाति के लोग आपस मे विवाह नही करते हैं। परन्तु अपने समुदाय मे विवाह न करना टोटेमिज्म का सर्वव्यापक नियम नहीं हे क्योंकि इसके बहुत अपवाद भी पाये जाते हैं।

2 इस समुदाय के लोग "टोटेम" के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित समझते है। इन लोगों का यह अखण्ड विश्वास हे कि उस विशिष्ट समुदाय (ग्रुप) के सभी लोगों की उत्पत्ति एक ही "टोटेम" से हुई है।

3 मनुष्यों के समुदाय तथा उनके टोटेम से धार्मिक सम्बन्ध माना जाता है। टोटेमिक समुदाय अथवा जाति के लोग अपने "टोटेम" के प्रति अत्यधिक सम्मान प्रदर्शित करते हैं तथा किसी प्रकार की आपत्ति या विपत्ति आने के समय उससे मुक्ति पाने की आशा रखते हे।

---

1 डा0 कृष्णदेव उपाध्याय: लोक सस्कृति की रूपरेखा, पृ0–179

2 हरबर्ट स्पेन्सर· प्रिन्सपुल्स आफ सोशियोलाजी भाग–1, पृ0–367
उद्धृतकर्ता– डा0कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा

3 डा0 विलियम क्रुक पापुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर आफ नादर्न इण्डिया भाग–2, पृ0–147
उद्धृतकर्ता डा0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोक सस्कृति की रूपरेखा

4 सोफिया बर्न दि हेण्ड बुक आफ फोकलोर पृ0–41
उद्धृतकर्ता डा0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोक सस्कृति की रूपरेखा

टोटेम के प्रति आदर तथा सम्मान प्रदर्शित करने की अनेक विधियां प्रचलित है परन्तु सबसे अधिक प्रसिद्व विधि है "टोटेम" की हत्या अथवा नाश नहीं करना। "टोटेम" कोई भक्ष्य जीव हुआ तो उसके मांस का भक्षण करना अत्यन्त निषिद्व है।[1] उदाहरण के लिए जो जातियां मछली को अपना "टोटेम" मानती है वे न तो उसे जाल मे पकड़ कर मारती है और न उसके मास का ही भक्षण करती है। डा0 बाल ने लिखा है कि खान्ध जाति के लोगो ने एक बार शिकार किये गये चीते के मृत शरीर को ढोने से इस कारण इनकार कर दिया क्योकि वह उनका "टोटेम" था।[2]

टोटेम–कबीला के लिए अपना टोटेम पूत अवश्य होता है परन्तु विशेष अनुष्ठानो पर टोटेम का वध (या बलिदान) किया जाता है। बलि सामुदायिक होता है (अर्थात् पाप का भागी समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति होता है) और बलि किये गये पशु के मांस का भक्षण कबीले का प्रत्येक सदस्य करता है। साथ ही बलि की अन्त्येष्टि क्रिया अनुष्ठानिक ढग से समारोह के साथ की जाती है। इस अनुष्ठान में यह भावना समाहित है कि बलि माँस का भक्षण करने वाला बलि के पूत पशु से एकात्म हो जाता है। देवता के उद्देश्य से बलिदान इसी प्रथा का एक विस्तार है। जिस पशु का बलिदान किया जाता है वह देवता का प्रिय भी होता है। इस प्रकार दवता पशु और बलिदाता तथा बलि मास भक्षण करने वाले सभी एकात्म हो जाते है।[3] इस प्रकार टोटेम प्रणाली को धार्मिक अनुष्ठानो के एक सूक्ष्म बीज के रूप मे भी देखा जा सकता है।

आदिम समाज के सदस्यों की गतिविधियो को नियंत्रित करने के लिए धार्मिक विश्वासों और जादू के भय का आश्रय लिया जाता है। इन्हीं विश्वासों को धार्मिक क्रियाओ द्वारा, बचन अथवा कर्म से अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। समाज के सदस्यो से यह अपेक्षा की जाती है कि वे धार्मिक निषेधो का उल्लघन न करे, अन्यथा दैवी शक्तिया उनका जीवन सुखमय नही रहने देगी। जादूकर्ता भी अपनी असाधारण शक्तियों का सदुपयोग या दुरूपयोग कर समाज में इन दैवी शक्तियो के भय को चिरस्थायी बनाये रखने मे योग देते है। संकट और अनिश्चय की स्थितियो मे मानव को धर्म और जादू से सहारा मिलता है।

---

1 सोफिया बर्न दि हैण्ड बुक आफ फोक्लोर, पृ0 41–42
उद्धृतकर्ता डा0कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा

2 डा0 बाल जगल लाइफ इन इण्डिया पृ0–600
उद्धृतकर्ता–डा0कृष्णदेव उपाध्याय लोक सस्कृति की रूपरेखा

3 भूपेन्द्र नाथ सान्याल. आदिम मानव समाज, पृ0–70

आदिम कलाएं

आदिम समाज मे श्रम की प्रधानता थी। आदिम मानव के श्रम साधना का स्पष्ट प्रभाव उसकी भाषा, नृत्य, संगीत एवं कला आदि पर परिलक्षित होता है। पहली बार जब आदिम मानव ने शिकार की खोज मे दौड लगायी होगी या पत्थर के पैने टुकडे का निर्माण किया होगा या वृक्ष के कई पत्तों को जोड लिया होगा तो वही उसकी कला का आरम्भ मानना चाहिए। पेरी के शब्दो में "आदि मानव का उल्लास में लिया गया विकृत आलाप ही आदि सगीत है।"[1] लोक कला का उदय आदि मानव के श्रम का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में उत्पादन ही आदि कला का जन्म स्थान है।

अपने कार्य मे लगी जनता कला को कला समझकर नही बल्कि अपने पेशे का ही एक माध्यम समझ कर स्वीकार करती है। "उत्तरी पश्चिमी आस्ट्रेलिया में बरसात की बड़ी आवश्यकता रहती थी। आदिम काल में इसके लिए वहां के लोग एक जादू के पत्थर का टुकड़ा बहुत से टुकडों पर रखकर तब तक नाचते थे जब तक कि वे बेहोश नहीं हो जाते थे। उनकी नृत्य–मुद्राओं में बिजली का चमकना, बादल का गरजना इत्यादि लक्षित होते थे। उनके बहुत ऊँचाई तक कूद–कूद कर नाचने का अभिप्राय केवल मात्र इतना ही था कि वे जितना ही उछले उनके पौधो के डठल उतने ही लम्बे होंगे। इसके अलावा वे अपने मुँह से प्राय वैसे ही शब्द करते थे जिस तरह के जानवरों का वे शिकार किया करते थे।[2]

नृत्य

नृत्य मानव जीवन का चिर सहचर रहा है। जबसे मनुष्य की उत्पत्ति हुई तभी से उसने नृत्य करना भी सीखा। नृत्य पर "विशेष समुदाय के पेशों का पर्याप्त प्रभाव था। शिकार करने वाली जातियां उस प्रकार के विशेष नृत्य करती थी, जिनमे शिकार के पकड़े जाने की नकल हो। खेतिहर समुदाय के नृत्यों मे कटाई, बोआई, रोपाई आदि के चित्र मिलते हैं। इस प्रकार आदि मानव के नृत्य का जीवन मे एक विशेष महत्व था। उनका नृत्य उनके उत्पादन से समन्वित था। इसी प्रकार उनकी खुदाई, चित्रकला और शिल्पकला भी इसी भावना से भरी थी।"[3]

---

1 सम्मेलन पत्रिका. लोक संस्कृति विशेषांक श्री मार्कडेण्य लोक कला का उदय पृ0–354 .

2 कर्ट सच वर्ल्ड हिस्ट्री आफ दि डांस
उद्धृतकर्ता– श्री मार्कण्डेय . लोक कला का उदय

3 इरनेस्ट ग्रोस . दि विगनिग आफ आर्ट पृ0–231
उद्धृतकर्ता श्री मार्कण्डेय लोक कला का उदय

प्राचीन काल में लोगों का यह विश्वास था कि नृत्य से प्रेतात्मायें प्रसन्न होती है। अतएव वे इन दुष्ट आत्माओ को प्रफुल्लित रखने के लिए नृत्य कर्म का विधान करते थे। इन आदिम लोगो मे नृत्य का एक दूसरा उद्देश्य था– "अपनी खेती की पैदावार का अधिक बढाना। उनकी यह निश्चित धारणा थी कि जब मनुष्य नाचता है तब खेतों में अन्न अधिक उपजता है। ऐसा न करने से खेतों में उपज की कमी और शिकार का अभाव होने लगता है जिससे भुखमरी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।"[1] इसलिए प्राचीन काल में आदिम जातियां अधिक अन्न उपजाने के लिए नृत्य किया करती थी।

संगीत एवं वाद्य

जब से मानव ने सभ्यता के प्रांगण में अंगडाइयाँ लेनी शुरू की तभी से सगीत का भी श्रीगणेश हुआ होगा। सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था मे वर्तमान, आदिम जातियों का जीवन संगीत से ओत प्रोत है। प्रकृति में भी सर्वत्र संगीत की ध्वनि सुनाई पड़ती है। कलकल तथा छलछल कर बहती हुई नदियों के प्रवाह मे, नवीन पल्लवों के कम्पन में, जीर्ण–शीर्ण पत्तो के टूटकर गिरने की पट–पट की आवाज मे, हिमाच्छादित तुग पर्वतो के शिखरो की विशालता में, सस्य श्यामला पृथ्वी की हरीतिमा में तथा अनगढ़ पाषाण खण्डों में भी शाश्वत संगीत की ध्वनि अनवरत सुनाई पड़ती है। चिड़ियो की चहचहाहट में, गायो के रभाने में और अश्वों के हिनहिनाहट मे भी संगीत की मधुर ध्वनि का आभास मिलता है। इसके अतिरिक्त मयूरों की मधुर केका मे, कोयल की मीठी तान में, गोरैया की चीं–ची में और कोओ की काँव–काँव मे भी एक अलोकिक संगीत का आनन्द प्राप्त होता है।

प्रकृति के विविध रूप जैसे चाँदनी और तारो–छाई रात, सूर्योदय ओर सूर्यास्त, पावस और बसन्त आदि ने आदिम मानव के मानस को आलोड़ित–मथितकर उसकी प्रतिक्रियाओं को भावों के रूप में उपजाकर भावना की अद्‌भुत सृष्टि की। आदिम मानव ने प्रकृति के विविध कार्य–व्यापारों में सर्वत्र सगीत की मधुर ध्वनि का अनुभव किया। सगीत और वाद्य के उद्‌भव के विषय में कार्ल बूचर का विचार है कि "लय, संगीत ओर कविता आदि मानव के श्रम से पैदा हुई। शारीरिक परिश्रम उस दशा मे अत्यन्त आसान हो उठता था जब कार्य एक लय के साथ किया जाता था। हाथ से सामूहिक रूप से काम करते समय शक्ति का एक संग्रहीत रूप उपस्थित करने के लिए उसे एक लय में बाधना जरूरी हो जाता था और इस प्रकार माँस पेशियों के कार्य में जब अधिकतम शक्ति लगने लगती थी तो अपने आप एक स्वर फूट पडता था। इन स्वरो पर आदि मानव ने शब्दो का पर्दा चढा दिया और सगीत बन गया। इसके अतिरिक्त औजारो का धातुओ से टक्कर

---

1 क्रेपी – दि साइन्स आफ फोकलोर, पृ0–301
उद्‌धृतकर्ता – डा0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोक सस्कृति की रूपरेखा

लगना और उनसे स्वर का निकलना भी उनके लिए प्रेरणा का कारण बना। इसी तरह बहुत से औजार भी वाद्य यंत्रो में परिणित हो गये।"[1]

चित्रकला .

आदिम मानव चित्रकला को भी अपने पेशे का एक माध्यम समझकर स्वीकार करता था। आदिम मानव का मुख्य पेशा आखेट था और इसी सिलसिले मे कला का प्रयोग होने लगा और उससे धार्मिक भावनाओं की उत्पत्ति हुई। शिकार करने के साथ–साथ मनुष्य सोचने लगा और उसने लक्ष्य किया कि हकुआ कभी–कभी व्यर्थ हो जाया करता है, भाला–बल्लम का निशाना चूक जाता हे और जहाँ जाड़ा अधिक पड़ता है जानवर वहां से दूर हट जाते हैं। वह उपाय सोचने लगा कि शिकार के लिए जानवर हर समय काफी संख्या में मिल सके और शिकार पर निशाना भी न चूकने पाये। बुद्धि के सहारे मनुष्य काफी कठिनाइयां पार कर चुका था और इस उपाय की खोज में भी उसने वुद्धि का सहारा लिया। एक दिन किसी को यह सूझा कि जानवरो का चित्र खींचकर उन्हें प्रभावित किया जाय ताकि प्रजनन से वे अपनी सख्या बढाये, जाड़ों में अपनी जगह वे कायम रहे या गर्मियों मे उन जगहों पर लौट आये ओर इस प्रकार मनुष्य का शिकार सुरक्षित हो। आदिम युग की चित्रकला के उद्‌देश्य के विषय में भूपेन्द्र नाथ सान्याल का विचार है कि "पशुओ का झुण्ड या यौन क्रियारत पशुओ को चिंत्रित करने का यह उद्‌देश्य था कि बाहर भी पशुओ का झुण्ड और पशुशावक हो। जानवरो के वेश में मनुष्य को चित्रित करने का उद्‌देश्य यह था कि मनुष्य जादू कर रहा हे ताकि जिन पशुओं की वह नकल कर रहा है उनकी संख्या बढे या उनके शिकार में मनुष्य को सफलता प्राप्त हो। किन्हीं पशुओं पर किसी व्यक्ति विशेष का हाथ चित्रित किया गया है अर्थात् ये लोग इन पशुओं को प्राप्त करे।"[2] आरम्भिक मानव गुहा–निवासी था ओर गुफाओं मे कुछ ऐसे चित्र मिले हें जो पशु–पक्षियों, पेड़ो, मानवो आदि के हैं। मानव ने सर्वप्रथम चित्रों द्वारा ही अपने मनोभावों को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया होगा। वेसे भी ससार की सभी लिपियों को देखने से यही अनुमान होता है कि लेखन का आरम्भ किसी न किसी प्रकार की "चित्र–लिपि" से ही हुआ होगा।

भाषा

प्रारम्भ में मानव पशु पक्षियों की तरह संकेतों एवं ध्वनियों से काम चलाता था। उस समय ये संकेत या ध्वनिया निरर्थक रही होगी, परन्तु जैसे–जेसे समय बीतता गया

---

1 सम्मेलन पत्रिका लोक संस्कृति विशेषांक
श्री मार्कडेण्ड लोक कला का उदय, पृ0–355

2 श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल . आदिम मानव समाज, पृ0–27

और प्रत्येक बार किसी विशिष्ट परिस्थिति मे विशिष्ट ध्वनि या विशिष्ट संकेत किये जाते रहे, वे ही सकेत उस परिस्थिति के प्रतीक बनते चले गये और उनको ही ध्वनि सकेतों के रूप मे सार्थक मानकर भाषा का रूप दिया जाने लगा। भाषा के निर्माण में श्रम के प्रभाव को प्रसिद्ध भाषा बैज्ञानिक लुडविग न्वारे ने स्वीकार किया है। उनका कथन है कि "जब मानव शारीरिक परिश्रम करता है तब उसके श्वास-प्रश्वास का वेग सहज ही तीव्र हो जाता है, उस तीव्रता के कारण उसकी स्वर तन्त्रियो मे कम्पन होने लगता है और इस कम्पन के कारण उसके मुख से कुछ ऐसी ध्वनियां निकल पडती है जिनसे उसे आराम भी मिलता था और वह अपना काम सरलता से करता रहता था। इन्ही ध्वनियो से भाषा की उत्पत्ति हुई।"[1] मानव ने अपनी परिस्थिति, परिवेश एव अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ध्वनि सकेतों को जन्म देकर भाषा का निर्माण किया है। अपनी इच्छा, अपने विचार एव अपने मनोभावो को व्यक्त करने के लिए मानव को जैसे-जैसे आवश्यकता होती गयी वेसे ही वेसे वह ध्वनि संकेतों का प्रयोग करता चला गया और वे ध्वनि सकेत ही विकसित होकर एव सार्थक बनकर भाषा के निर्माण में सहायक होते चले गय।

आदिम मानव की रचनात्मक क्षमता का विवेचन करते हुए प्रो0 रघुवश जी कहते है कि "मनुष्य का व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही मानसिक रचनात्मक क्षमता से सम्पन्न रहा है। वह अपने व्यक्तित्व के प्रति पूरी तरह सजग रहा है, पर इस मानसिक स्तर पर प्रकृति के दृश्य रूपों को समग्रता मे ग्रहण करता है। आदिम स्तर पर मानव संस्कृति की एकतानता या समग्रता को लक्षित किया जाता है। आदिम मानव की मन:स्थिति में मानवीय अनुभव की समग्रता और उसका रूप विधान लक्षित कर सकते हैं। यहाँ मनुष्य की रचनाशीलता के उस स्तर को देखा जा सकता है जिसके प्रतीकीकरण से क्रमश: उसके चिन्तन और विचार की प्रक्रिया होती चलती है। बिम्बो मे, प्रतीकों में, परिवेश को ग्रहण करने के क्रम में वह अपने अनुभव का समग्र तथा सम्पृक्त मन साक्षात्कार करता है और धीरे-धीरे इसी आधार पर वस्तुओ, व्यापारो और व्यवहारों के अनुभव में अलगाव एवं विश्लेषण की प्रक्रिया से उसने मानसिक प्रत्यक्षों तथा विचार के प्रत्ययों को ग्रहण करना सीखा। अपने प्राकृतिक परिवेश में वह सामाजिक व्यवहार को स्पष्ट होते पाता है और इस क्रम में अनुभव के अनेक रूप उसके मानसिक स्तर पर विचार के प्रत्ययों तथा परिकल्पनाओं में क्रम और व्यवस्था पा रहे हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि उस अवस्था में रचनात्मक स्तर पर वह अनुभवों को प्रकृति के समग्र एवं संश्लिष्ट रूपों तथा प्रतीकों में ग्रहण करने में सक्षम रहा है।"[2]

---

1 डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना- भाषा विज्ञान के सिद्धान्त एवं हिन्दी भाषा पृ0-77-78

2 प्रो0 रघुवश कबीर एक नई दृष्टि, पृ0-14-15

खण्ड "ग"

लोक जीवन की धारावाहिकता

(1) आदिम परम्परा

1. सहयोग एवं सद्भाव
2. परिवार
3. गोत्र
4. वर्ण एव जाति
5. सम्बन्ध प्रथा
6. संस्कार
7. आर्थिक क्रियाकलाप
8. धार्मिक विश्वास
9. लोक साहित्य एव लोक कलाएँ

(2) अधिग्रहण नागरिक सभ्यता से प्रभाव ग्रहण

*****

खण्ड–ग

लोक जीवन की धारावाहिकता

लोक जीवन स्थिर नहीं होता। गतिशीलता उसकी स्वाभाविक प्रकृति और प्रवृत्ति है। परिवर्तन के विविध आयामों से होकर गुजरता हुआ लोक जीवन अपने जीवित सस्कारों के कारण प्राण सम्पन्न दिखलायी पड़ता है। मनुष्य के जीवन में घटनाओं का चक्र सदैव चलता रहता है। परिवर्तन का अस्तित्व गतिशीलता के मूल में शाश्वत रूप मे विद्यमान रहता है। घटनाओं के प्रभाव से जुड़ा हुआ मनुष्य आवश्यकता के अनुसार स्वय अपने मे भी परिवर्तन और संशोधन करता है। वस्तुत यह जीवन पर्वत के गोद स जन्म लेने वाली नदी के जल प्रवाह की तरह होता है जा कभी तो आगे बढ़ता है, कभी आगे बढने के क्रम में रूकता भी है। कभी–कभी उसमें विभिन्न प्रकार के उतार चढाव भी आते है किन्तु उसका प्रवाह स्थिर नहीं होता। लोक जीवन के सतत् प्रवाहशील रूप में एक ओर आदिम अवशेष सुरक्षित दिखाई देता है तो दूसरी ओर उसमें नागरिक सभ्यता का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

आदिम परम्परा

मानव सभ्यता के विकास की सीढ़ी पर चढ़ता हुआ भी अपने युगों के प्रभावो को ग्रहण करता हुआ भी आदिम मूल प्रवृत्तियो को त्याग नही पाता है, उसको सदेव साथ लेता चलता है। आदिम मानस के अवशेष आज भी लोक मानस में उत्तराधिकार रूप में चले आ रहे है। डा0 सत्येन्द्र के विचार से –"ये इसलिए बचे रहते हैं कि ये लोक के उस जीवन के उपलक्षण हे जिनकी निरन्तर पुनरावृत्ति हाती रहती हे और जिनगें ही केवल दीर्घकाल के दौरान में ऐसे अवशिष्ट रूप मे रहने की आन्तरिक क्षमता रहती है। स्पष्ट है कि लोक जीवन में जो परम्परागत अवशेष रहता हे , उस अवशेष के साथ वह मानस भी अवशेष के साथ रहता है। वस्तुत जब तक अवशेष के लिए आग्रह नहीं हो, तब तक कोई वस्तु अवशेष की भाँति परम्परा में जा नहीं सकती। मूलत ये मानस की मूल वृत्तियाँ जो मानव के अन्दर हे आदिम से आदिम भाव रूप को अपने अन्दर बचाये हुए है।"[1]

लोक जीवन मे आदिम परम्परा को सर्वत्र कही न कहीं किसी न किसी रूप मे देखा जा सकता है। एक जीवन्त परम्परा हमारी आन्तरिक प्रवृत्तियों को प्रभावित करती है, हमारे स्वभाव को मानवीय बनाती है तथा हमे उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित करती है जैसे जैसे हमारा ज्ञान बढ़ता है हमारी सैद्धान्तिकता भी बढती जाती हे। परम्परा के केवल वे ही अंश सर्वोपरि ढंग से स्वीकृत होते है जो हमारी ज्ञान राशि से संचित कोष

---

1 डा0 सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ0–31

मे तर्कसगत ढंग से मेल खाते है। पूरी परम्परा कभी जीवित नही रहती। परम्परा को जीवित रहने के लिए प्रवाही होना चाहिए। युग की बदलती चेतना के साथ उसका चिन्तन भी बदलता है। समय के साथ, समाज की भौतिक अवस्था के परिवर्तनों के साथ परम्परा को भी बदलना चाहिए। वह रूढ़ तो बन ही नही सकती। गहरा संस्कार बनकर उसे व्यक्ति में घुलना पडता है।

हम परम्परा के प्रति गहन अधविश्वास या सम्पूर्ण अनास्था दोनो ही लेकर गतिशील नही हो सकते। हमे कहीं न कहीं विवेक के माध्यम से अपने को स्थिर करना ही होगा। तभी हम परम्परा के प्रति विश्वास उत्पन्न कर सकेंगे। गेटे कहता है[1] कि ससार एव मानवेतिहास का एक और केवल एक ही वास्तविक तथा गहन वर्ण्य विषय है, अन्य वर्ण्य विषय उसके अधीन है और वह है विश्वास एवं अविश्वास के बीच संघर्ष। जितने भी युग विश्वास द्वारा नियंत्रित हुए है फिर चाहे उनका रूप कुछ भी रहा हो, उनका अपना एक आलोक और आनन्द होता है, वे अपने देश जाति के लिए भी और शाश्वत सनातन के लिए भी फलदायक होते है।

भारतीय परम्परा किसी विश्वास या शक्ति को स्वीकृत करने का निर्देश नहीं देती, वरन् वह अनुभवों के द्वारा परीक्षण करने के लिए कहती है। वह हमे आगे बढ़ने के लिए कहती है जहाँ हम सभी का सम्मान कर सके तथा सभी के प्रति सहिष्णुता का भाव उत्पन्न कर सके। परम्परा के प्रवाह में आये हुए आदिम अवशेषों को मानव अपने मे समाहित किये हुए है। ये आदिम अवशेष आदिम दाय के रूप मे हमारी प्रवृत्तियो में विद्यमान रहते है व इसी से समस्त जातियो की जीवन प्रणाली एवं रीति-रिवाजो मे एक साम्य दिखाई पड़ता है। आदिम अवशेष इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह मूल आदिम प्रवृत्ति न होकर आदिम मानस की परम्परा में है।

सहयोग एवं सद्भाव

एक से कार्य, संवेदनाए, चेष्टाए ओर रागात्मक सम्बन्ध इत्यादि आदिम मानव की विशेषता थी। आदिम मानव में सहयोग एवं सद्भाव की भावना प्रबल रूप में विद्यमान थी। सहयोग और सद्भाव की यह परम्परा आदिम युग से मोखिक रूप मे पीढ़ी दर पीढी हस्तान्तरित होती हुई वेदिक युग से होकर आज तक सुरक्षित रही है। ऋग्वेद में कहा गया है[2] कि हम एक साथ एकत्रित हो ताकि समान आदर्श एव लक्ष्य विकसित हो। सारे मस्तिष्क एक प्रकार से सोचे। कार्य-व्यापार एव उपलब्धिया एक सी हो। विचार

---

1 एरिक हेलर दि डिस इनहेरिटेड माइण्ड पृ0-77
उद्धृतकर्ता सुरेश सिंह . हिन्दी उपन्यास साहित्य मे मानतावादी तत्वो का अध्ययन

2 सगच्छच्वं संवदच्व सं वो मनांसि जानतां।
समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सह चिन्तमेषा।।
समानि व आकूति समाना हृदयानि व
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ।।

-ऋग्वेद 10,192

एव निश्चय एक से हो। हार्दिक आकाक्षाए भी एक समान हो। इसी सन्दर्भ मे मनुष्य की वास्तविक स्थिति का उल्लेख करना आवश्यक है। निरूक्त में पूछा गया है [1] कि मनुष्य किसलिए है ? यास्काचारी कहते है कि जो सोच समझकर कार्यरत होते है वही मनुष्य है।

इस जगत में मनुष्य सभी प्राणियों मे सर्वश्रेष्ठ है।[2] वह इस बात की कामना करता है कि सभी प्रेम से चले ओर प्रेम–पूर्वक भाषण करे। सबके विचार समान हो, चित, मन मे कोई अन्तर न हो। सबको समान ज्ञान प्राप्त हो जिसका समान उपभोग करते हुए सभी आदर्श मानव बने। सबके हृदय तथा सकल्प सदैव अविरोधी हो जिससे सभी के मन प्रेम से आप्लावित हो और संसार मे सभी प्राणिया के लिए सुख सम्पदा की वृद्वि हो।आदिम मानव की सामूहिकता, समानता एव परस्पर प्रेम करने की भावना तथा समूह की हित चिन्तन की प्रवृत्ति से धीरे–धीरे वसुधेव कुटुम्बकम् का हमारा आदर्श विकसित होता है। हमारा परम्परागत आदर्श इस प्रकार अभिव्यक्ति होता है जहा मानव कहता है–[3] मै राज्य की इच्छा नही करता, स्वर्ग की कामना नही करता और न पुर्नजन्म की। मेरी केवल एक ही कामना है कि मे दु ख तप्त व्यक्तियों का दु ख विनाश कर सकूँ। आदिम मानव का प्रत्येक कार्य सामूहिक हित को ध्यान में रखकर सम्पन्न होता था। आदिम युग की सामूहिकता, समानता एव स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति पीढी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होकर भारतीय परम्परा को आधुनिक सन्दर्भ म विराट पृष्ठभूमि पर अधिष्ठित कर देती है।

जीवन में जूझना पड़ता है। सघर्ष, समर्थता, सकल्प एवं आस्था जीवन के महत्वपूर्ण आयाम है जो हमें स्थिरता न प्रदान कर गतिशीलता देते हैं। जीवन का अर्थ इस प्रकार गहन से गहनतर होता जाता है। व्यक्ति वृहत्तर समुदाय का अंग होकर समाज के प्रवाह मे जीता है। दूसरों से टकराता हुआ और दूसरो को स्वयं टक्कर मारता हुआ वह दिशान्मुख होता है यही जीवन का वास्तविक सघर्ष है। "मानव की प्रकृति में सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा, नैतिक आकांक्षाएं, दूसरों के प्रति प्रेम तथा सहयोग ओर अपने स्व से भी कही बड़ी सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की प्रवृत्तियां भी होती है। ये रचनात्मक भाव सवेग

---

1 मनुष्या कस्मात्,
मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। –निरूक्त 3,2

2 मनुष्या जगति श्रेष्ठा ।
–महाभारत

3 न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्ग न पुनर्भवम्।
कामये दु खतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

मानव जीवन के सूत्रो को विकसित करते है तथा जीवन के विविध रंग प्राप्त होने के साथ ही उसकी विशिष्टता, पूर्णता एवं सार्वभोमिकता की प्रवृत्तिया अधिक स्पष्ट होती है।"[1]

·परम्परा की समाजगत सांस्कृतिक प्रवृत्ति सर्वथा नूतन है। इसका विश्वास है कि विभिन्न परम्पराओं में समन्वय तथा अनुकृति आदि के द्वारा एक संश्लेषित परम्परा विकसित हो सकती है। वस्तुत परम्परा किसी समाज की पूर्वजों से प्राप्त उपलब्धि है जो सामाजिक संगठन के सभी स्तरों यथा–मूल्य–प्रतिमान, सामाजिक गठन एवं व्यक्तित्व निर्माण पर विकसित होती है। समाज के जीवन में समय का प्रत्येक सूत्र परिवर्तनशीलता के तत्वों को रेखांकित करता है। मानव प्रगति के साथ स्वयं विकसित होकर ही परम्परा और सस्कृति अपनी पूर्णता को सुरक्षित रख पाती है।

आदिम युग के सस्कार, रीति रिवाज विश्वास, सामाजिक सस्थाए, आर्थिक क्रिया व्यापार, नृत्य, सगीत एवं आदिम कलाए पीढ़ी दर पीढी हस्तान्तरित होकर वर्तमान लोक जीवन मे अपने को सुरक्षित रख पाने में सफल हुई है। बारम्बार पुनरावृत्ति के कारण ही लोक जीवन में आदिम चेतना के स्वरूप का हमें प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त होता है।

परिवार

आदिम समाज में परस्पर सहयोग भावना अत्यन्त प्रबल रूप में विद्यमान थी। पारस्परिक सहयोग–भावना एव कर्तव्य–बोध परिवार के सदस्यो का मूलाधार है। आदिम युग में सम्पूर्ण कबीला एक परिवार था। अत परिवार का उद्भव अत्यन्त प्राचीन काल से इसी आधार पर हुआ है। प्रत्येक युग और काल मे परिवार या कुटुम्ब किसी न किसी रूप मे रहा है तथा जन–जीवन मे अपना विस्तार करता रहा है जिससे उसका सामाजिक परिवेश बढ़ता रहता है। सभ्यता और संस्कृति के उत्थान के साथ–साथ परिवार का भी उत्थान होता रहा है तथा साथ ही मनुष्य के जीवन की पूर्णता भी इसी से होती रही है। समय के साथ समाज में जितने भी परिवर्तन और परिवर्द्धन हो किन्तु परिवार के मूल तत्वो को कभी भी कम नहीं किया जा सकता क्योंकि इनके माध्यम से योन सम्बन्ध, सतानोत्पत्ति और शारीरिक रक्षा जैसी व्यक्ति की मोलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है तथा सामाजिक आर्थिक और सास्कृतिक कार्यो को सम्पन्न किया जाता है।

---

1 सुरेश सिह हिन्दी उपन्यास साहित्य मे मानवतावादी तत्वों का अध्ययन पृ0–63

परिवार संस्था भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से है जिसका स्वरूप आदिम साहित्य ऋग्वेद के काल से ही स्थिर होने लगा था। अत पूर्व वैदिक युग से ही संयुक्त परिवार की कल्पना की गयी है। एक स्थल पर पुरोहित विवाह के समय वर–वधू को आर्शीवाद देता है" तुम यही इसी घर में रहो, विमुक्त रूप होओ, अपने घर में पुत्रों और पौत्रो के साथ खेलते हुए और आनन्द मनाते हुए समस्त आयु का उपभोग करो।"[1] यह भी कहा गया है, "तू सास, ससुर, ननद और देवर पर शासन करने वाली रानी बन।"[2] ये कथन इस बात को प्रमाणित करते हैं कि पूर्व बैदिक काल में सयुक्त परिवार था जिसमे माता–पिता, भाई–बहन ओर पुत्र–पुत्री सभी रहते थे और बाद में होने वाला उनका परिवार भी निवास करता था। इस तरह संयुक्त परिवार में एक ही रक्त–सम्बन्ध के सदस्य सम्पत्ति में समान अधिकार रखते थे, धर्म पूजा करते थे और उनका एक साथ भोजन बनता था। यही नही, संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियाँ रहती थी जो पारस्परिक अधिकारों और दायित्वों के माध्यम से अपने सदस्यो को एक दूसरे से आबद्ध किये हुए थी। संयुक्त परिवार की यह परम्परा आज भी वर्तमान है, जिसमे कई पीढ़ियाँ है और कहीं–कहीं पचास से ऊपर सदस्य है तथा खाना–पीना रहना और आय–व्यय एक साथ मिला हुआ है। संयुक्त परिवार में सभी व्यक्ति मिलकर एक साथ रहते थे। अत ऐसी दशा मे घर के इन सदस्यों के लिए कोई भी कार्य कठिन या असंभ्व नहीं था। "संघे शक्ति. कलौयुगे" की लोकोक्ति उस समय भी चरितार्थ होती थी क्योंकि घर अनेक सदस्यों का संघ था।

प्राचीन काल में पितृमूलक परिवार की ही प्रधानता थी जहाँ वंश परम्परा पिता से पुत्र और पुत्र से पौत्र की ओर चलती थी। इस प्रकार पुत्र–पौत्रादि को अधिकारों तथा दायित्व को अर्पित कर देने की परम्परा जिस समाज मे स्थापित हो उसे पितृमूलक परिवार कहा जाता है। आदिम युग में संसार के सभी देशो में यही परम्परा व्यवस्थित थी। आज भी संसार के अनेक देशो में तथा भारत में पितृमूलक परिवार की परम्परा कायम है। इसके ठीक विपरीत मातृमूलक परिवार वह है जहाँ वंश परम्परा तथा अधिकार का क्रम माता से पुत्री और पौत्री को सक्रमित होता है। इस परिवार में माता का वही स्थान होता है जो पितृमूलक परिवार में पिता का होता है। भारत में केरल राज्य में मातृमूलक परिवार व्यवस्था आज भी पायी जाती है। जहाँ माता के पश्चात् उसकी पुत्री और

---

1 ऋग्वेद, 10 85 42

2 सम्राज्ञी स्वसुरे भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।

–ऋग्वेद 10 85 46

तत्पश्चात उसकी पोत्री घर की स्वामिनी बनती है। ससार के अन्य देशों में भी कहीं कही यह व्यवस्था आज भी उपलब्ध होती है परन्तु धीरे-धीरे इस व्यवस्था का नाश हो रहा है।

गोत्र

मनुष्य केवल परिवार मे ही आबद्ध नही रहता है। पड़ोसियो से भी उसका कुछ न कुछ सम्बन्ध होता है। वह जानता है कि पडोसियो से क्या उम्मीद करनी चाहिए और पड़ोसी उससे क्या उम्मीद कर सकते है। इस प्रकार एक समुदाय बन जाता है। स्थानीय समूह में ही एक व्यक्ति अपने को कुछ अन्यों से रक्त सम्बन्ध में बंधा हुआ समझ सकता है। जितने व्यक्तियो से उसका रक्त सम्बन्ध होता हे वे सब मिलकर एक गोत्र कहलाते है। गोत्र का अर्थ साधारणत. पूर्व पुरूष को व्यक्त करता है।[1] गोत्र शब्द गोशाला (गायो का समूह) और व्यक्तियों के समूह के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[2] पाणिनी ने गोत्र शब्द की व्याख्या वंश या कुल के अर्थ मे की है।[3] गोत्र का अर्थ दुर्ग अथवा पर्वत से भी लिया गया है। संभवत एक ही स्थान अथवा क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियो को एक गोत्र का सदस्य माना गया। वस्तुत गोत्र उस आदि पुरूष के लिए प्रयुक्त किया गया जिन्हे "कुल" या "वंश" की सज्ञा दी गयी जो विधा, धन, शौर्य, औदार्य आदि गुणों के लिए विख्यात हुआ और कालान्तर मे जिसके नाम से वंश अथवा कुल का विकास हुआ।[4] गोत्र की प्रकृति एक पक्षीय होती है अर्थात् एक गोत्र में या तो माता की ओर के सब परिवारों का संकलन होता है या पिता के ओर के सब परिवार सम्मिलित होते है। आपत्य स्नेह सार्वभौम सिद्वान्त है इसलिए मातृवंशीय गोत्र मे भी माता, पिता और बच्चों का पारिवारिक सम्बन्ध बिल्कुल मिट नही जाता।

परिवार और गोत्र में एक भेद यह है कि परिवार स्वल्पकालीन इकाई हे ओर गोत्र अधिक स्थायी है। परिवार में बच्चे बड़े होते है तो अपने स्वतत्र परिवार बना लेते हैं, पुराने परिवार का फिर अस्तित्व मिट जाता है परन्तु वे भी एक गोत्र मे बधे हुए होते है, इसलिए परिवार टूटने पर भी गोत्र सम्बन्ध बना रहता है। यही कारण है कि गोत्र सार्वजनिक हित के लिए सेवा करता रहता है क्योकि यह एक ऐसी सामाजिक इकाई हे

---

1 पूर्व पुरूषान् यत्तत् गोत्रम्
- शब्दकल्पद्रुम द्वि0ख0 पृ0-355

2 ऋग्वेद, 2 23 18, 6 65 5

3 अष्टाध्यायी 4 1 93

4 मनुस्मृति, 3 194

जो कुछ व्यक्तियों के निकल जाने पर भी कायम रहती है।

आदिम समाज में गोत्र–पूर्वज सदेव मनुष्य ही रहा हो यह आवश्यक नहीं माना जाता। किसी पशु अथवा वस्तु को भी पूर्वज मान लिया जाता है। कमारो में कुंजाम गोत्र का उद्‌भव तब हुआ जब एक स्त्री ने बकरे के ससर्ग से संतान उत्पन्न की।[1] कही–कहीं घोडे और स्त्री के संसर्ग से उत्पन्न सतति अथवा सुअर और स्त्री की सतति आदि की प्रचलित किवदन्तिया गोत्र नाम निर्धारित करती है। आस्ट्रेलियन जातियों मे हर गोत्र किसी न किसी पशु या पौधे का भक्त होता है।[2] कगारू गोत्र ऐसे अनुष्ठान करता है जो जाति के निवास क्षेत्र में कंगारू का अस्तित्व कायम रखने के लिए आवश्यक समझे जाते है। इसी से टोटेम प्रणाली की उत्पत्ति हुई है। जब पशु–जगत या वस्तु जगत के किसी सदस्य से सन्तति और पूर्वज का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तब वह पशु या वस्तु उस गोत्र के लिए विशेष महत्व और पूजा के योग्य हो जाती है। गोत्र के सदस्यो के लिए वह देवतुल्य होता है। इसे टोटम कहा जाता है। यह टोटम चिन्ह कई धार्मिक क्रियाओ को जन्म देता है।

सुप्रसिद्व विद्वान विलियम क्रुक का विचार यह है[3] कि ज्यो ज्यों सभ्यता का विकास होता गया त्यों–त्यों ये आदिम जातिया अपने प्राचीन टोटेमिक नामों को छोडती गयी और उन्होंने नये नामो को धारण कर लिया। जिस प्रकार कन्नौज के पास रहने वाले ब्राह्मणो ने अपने को "कनौजिया" और सरयू नदी के कछार के निवासी ब्राह्मणो ने अपने को सरयूपारीण कहना प्रारम्भ किया। उसी प्रकार क्षत्रिय जातियां सूर्य और चन्द्रमा से अपना सम्बन्ध जोडकर अपने को सूर्यवंशी ओर चन्द्रवशी कहने लगी। भारत में देवताओ के वाहन के रूप में कई पशु पक्षी पूत है। कई आदिम जातियो में पशु–पक्षियो की पूजा आज भी प्रचलित है। नाग पूजा तो और भी व्यापक हे। सांप को मारने के बाद उसका दाह सस्कार आज भी अनेक करते हैं।

आदिम समाज में गोत्र से बाहर, दूसरे गोत्र मे विवाह करने की प्रथा प्रचलित रही है। प्राचीन काल की यह व्यवस्था आज भी हिन्दू समाज मे वर्तमान है। गोत्र का विकास उत्तर वैदिक काल तक पूर्ण हो चुका था और उसके बाद –हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने सगोत्र

---

1 श्यामाचरण दूबे . मानव और सस्कृति, पृ0–123

2 भूपेन्द्र नाथ सान्याल· आदिम मानव समाज पृ0–79

3 उदधृतकर्त्ता डा0 कृष्ण देव उपाध्याय
–लोक सस्कृति की रूपरेखा, पृ0–179

विवाह को वर्जित कर दिया था।

कभी–कभी कई गोत्र मिलकर एक गोत्र समूह बना लेते हैं। इसे भी भातृदल कहते है। इस भातृदल का प्रत्येक सदस्य अपने निजी गोत्र की तो विशेष महत्व देता ही हे पर साथ ही वह भातृदल के प्रति भी अपने सुनिश्चित कर्तव्य निभाता है। यह बहुत ही ढीला और अपेक्षाकृत असगठित सा समूह रहता है। साधारणत विवाह की दृष्टि से इस दल का अधिक महत्व नहीं होता, फिर भी कतिपय समूहों में यह शुभ समझा जाता है कि कोई इस दल में अन्तर्विवाह न करे। किसी भी जनजाति में दो से अधिक भातृदल होना आवश्यक है। यदि भातृदलों की संख्या दो हुई तो उसे अर्द्धाश कहते हैं। संथाल में 100 से अधिक गोत्र है, हो जनजाति मे लगभग 5 और मुण्डा मे 64 गोत्र पाये जाते है।

जो परिवार गोत्रो से सम्बद्व है ओर जा गोत्रभुक्त नही हे सभी ऐसी इकाई मे सम्मिलित होने के इच्छुक रहते है जो स्थानीय दल से बडी हो। अधिकांश आदिम जातियों में समाज की यह बड़ी इकाई जनजाति है। जिन समुदायो से जनजाति बनती है। वे प्राय एक ही क्षेत्र में रहते हैं, एक ही भाषा बालते हे और प्राय एक ही प्रकार का जीवन बिताते है। लेकिन जनजाति के अस्तित्व की ये मोलिक आवश्यकताएं नहीं है। परस्पर सद्भावना और सहयोग वास्तविक बन्धन है। बच्चे, जातियो में रहकर बड़े होते है तो जातीय सगठन की विशेषताओं को समझने लगते हैं। जनजाति के अन्य लोगों से अनोपचारिक बर्ताव कैसे किया जाता है यह भी वे सीख लेते हे। इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी जनजाति का अस्तित्व कायम रहता है।

जनजाति के लोग अपने को परस्पर सम्बन्धित समझते हैं। इसलिए जाति के किसी एक भाग पर आक्रमण सम्पूर्ण जनजाति के विरूद्व आक्रमण समझा जाता है और इसकी तुरन्त प्रतिक्रिया होती। वास्तव में जनजाति के लोग अपने को ही सभ्य समझते है और उस जाति के बाहर के सभी लोगों को नीचा या पशुतुल्य समझते हैं। जनजाति के सदस्यों के प्रति नम्र व्यवहार होता है और अन्यों के प्रति निर्दय व्यवहार करने में उन्हे हिचक नहीं होती। आज के लोक जीवन मे भी इस मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

वर्ण एवं जाति

आदिम समाज में सभी व्यक्ति मिलकर कार्य करते थे। इसी कारण संकलन–आखेटक और सरल कृषि व्यवस्था में वर्ग–भेद नही पाया जाता। जैसे–जेसे

समाज विकसित होता गया अनुभव से मानव ने समझा कि इस व्यवस्था मे परिवर्तन करना चाहिए। कुछ व्यक्तियो को एक नियत कार्य करने के लिए चुना गया। आदिम समाज में शिकार करने और सम्पत्ति अर्जन के लिए कुछ युवा सदस्यों को मनोनीत किया गया। कुछ सदस्यो को आक्रमण करने और आक्रमण से समाज की रक्षा के लिए चुना गया। कुछ व्यक्ति व्यवस्था अथवा उचित प्रबन्ध के लिए नियत किये गये। इस प्रकार प्रारम्भ में कर्म के आधार पर व्यक्ति का चुनाव किया गया। "वर्ण" शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत के वृञ वरणे" अथवा "वरी" धातु स हुई हे जिसका अर्थ है चुनना या वरण करना। सभवत वर्ण से तात्पर्य वृत्ति से हे, किसी विशेष व्यवस्था के चुनने से । सभी वर्णों के मनुष्यो मे समानता है अन्तर केवल उनके गुण और कर्म का है। समाजशास्त्रीय भाषा मे "वर्ण" का अर्थ "वर्ग" से है जो अपने चुने हुए व्यवसाय से आबद्व है। वास्तव मे "वर्ण" उस सामाजिक वर्ग की ओर इगित करता हे जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान है और जो अपनी इन्ही विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गो से अथवा समूहों से सर्वथा अलग रहता है और अपने हितो और स्थितियो के विषय में जागरूक होता है। आर्य वर्ण ओर दास वर्ण अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य और शूद्र वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत आते हे जो कालान्तर में केवल ब्राह्मण क्षत्रिय वेश्य और शूद्र के रूप में वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत रह गये। वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान है ओर प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट कर्तव्य हे।

"वर्ण" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद मे हुआ हे जो पूर्व वैदिक युग की समाज–रचना के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। उसमे "वर्ण" का प्रयोग "रंग" अथवा "आलोक" के अर्थ मे है।[1] यत्र–तत्र ऐसे वर्गो के लिए भी "वर्ण" का व्यवहार हुआ हे जिनके शरीर का त्वचा श्याम थी अथवा श्वेत। तत्कालीन समाज में दो ही वर्ण थे एक आर्य और दूसरा अनार्य या दास अथवा दस्यु।[2] यह अत्यन्त प्रारम्भ की सामाजिक व्यवस्था थी जिसमें त्वचा को भेदक आधार माना गया। वैदिक काल के पूर्व युग मे ही वर्णो का समाज सगठित होने लगा था। आर्य और दास के रूप में दो प्रधान वर्ग सामने आ चुके थे। उत्तर वेदिक काल तक आते–आते आर्य और अनार्य (दास) का विरोध और द्विवर्ण का स्वरूप समाप्त सा हो गया। इनके स्थान पर चातुर्वर्ण का उल्लेख प्रारम्भ हो गया। यद्यपि ऋग्वेद में चारों वर्णो का उल्लेख अवश्य हुआ है।[3] किन्तु उस

---

1 ऋग्वेद 1 73 7, 2 3 5, 9 97 15

2 ऋग्वेद 2 2 4 यो दास वर्णमघरं गुहा क ।

3 ऋग्वेद 10 90 12

ब्राह्मणोऽस्य मुखासीद् बाहू राजन्य कृत ।
उरूतदस्य यद्वेश्य पद्भ्या शूद्राऽजायत।।

अश की प्राचीनता उतनी नहीं है जितनी ऋग्वेद के अन्य प्रारम्भिक ऋचाओ की। प्रारम्भ मे कर्म को प्रधानता दी गयी थी कालान्तर में समाज ने कर्म के अनुरूप उस व्यक्ति को व्यक्तिवाचक नही रहने दिया उसे जातिवाचक रूप मे परिणित कर दिया। आगे चलकर समय के परिवर्तन के कारण समाज मे जो व्यक्ति जिस काम को कर रहा था उसको उसी नाम और जाति से अभिहित किया जाने लगा। उस जाति विशेष मे उत्पन्न सभी व्यक्ति उसी काम को करने लगे। इस प्रकार जो वर्ण व्यवस्था कर्मणा प्रचलित थी वह जाति प्रथा के अन्तर्गत जन्मना स्थापित हो गई। पहिले जो चार वर्ण– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य, शूद्र थे– कालान्तर में चार जातियो के रूप मे प्रतिष्ठित हो गये इन जातियो मे जो कोई जन्म लेता था वह व्यक्ति भी चाहे उसका गुण और कर्म भले ही भिन्न क्यो न हो, उस जाति के नियत कर्म को करने के लिए बाधित हो जाता था। कालान्तर मे इन जातियो में भी स्थान–भेद तथा अन्य कारणो से अनेक उपजातियों बनने लगी। जाति–व्यवस्था के विरूद्व प्रकट और अप्रकट तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विद्रोह अनेक बार हुए है और उसका स्वरूप भी बदला है किन्तु बीसवी सदी मे भी उसके ढांचे की बाह्य रूप–रेखा में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ।

सम्बन्ध प्रथा

परिवार, गोत्र, गोत्र समूह, वर्ण तथा जाति के अतिरिक्त सामाजिक संगठन की जिस इकाई की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता हे वह हे सम्बन्ध प्रथा। रक्त सम्बन्धियों और विवाह सम्बन्धियों मे भेद तो किया जाता है किन्तु एक सीमा के बाद ये पक्तियो धुधली पड जाती है। विशिष्ट संज्ञा–व्यवस्था मे व्यक्ति जिससे सम्बन्धित होता है उसके साथ अपने सम्बन्ध को विशिष्ट सबोधन द्वारा स्पष्ट करता है। इसके विपरीत दूसरी व्यवसथा में वह केवल यह प्रकट करता है कि स्म्बोधित व्यक्ति कतिपय सुनिश्चित सम्बन्धी वर्गो मे से किसी विशेष वर्ग का है। आदिम समाज मे पिता के अतिरिक्त पिता के सब भाई माता के बहनो के पति एक दूसरे के बच्चो को बेटा–बेटी मानते है। सभी बच्चे एक दूसरे को भाई अथवा बहन कहकर सम्बोधित करेगे। वर्तमान लोक जीवन में भी इस वर्ग के बच्चे एक दूसरे को भाई अथवा बहन कहकर सम्बोधित करते हैं।

जब किसी सम्बन्ध की सृष्टि होती है तो परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियो के व्यवहार की सीमाए भी निश्चित कर ली जाती है। व्यक्ति को विभिन्न श्रेणी के सम्बन्धियो के लिए विभिन्न प्रकार के व्यवहार प्रकार रखने पडते है। कुछ सम्बन्धियों के प्रति श्रद्वा और सम्मान का भाव अपेक्षित रहता है। माता पिता प्राय सदेव इसी श्रेणी के सम्बन्धियों में आते है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे सम्बन्धी होते है, जो एक दूसरे से विमुख रहना पसन्द करते हैं। तीसरे प्रकार के वे सम्बन्धी होते है जिनके साथ हसी

मसखरी के सम्बन्ध रख जा सकते है। आदिम समाज और वर्तमान लोक जीवन में आदरणीय व्यक्ति के प्रति सम्मान व्यक्त करने के तरीके मे एकरूपता परिलक्षित होती है। आदरणीय व्यक्ति के प्रति सम्मान व्यक्त करने वाला व्यक्ति अपनी भावना अनेक रूपों में व्यक्त करता है– उनके आने पर सदा खडे होकर, विशेष अवसरों पर उनके चरणो का स्पर्श करके, उनके सम्मुख बीड़ी आदि न पीकर, उनके सामने धीरे बोलकर। आदिम समाज और वर्तमान लोक जीवन में कहीं–कही सास अपने दामाद के सामने घुंघट निकालती है और उससे बात तक नही कर पाती। इसी प्रकार बहु अपने पति के पिता या बडे भाई अथवा अन्य किसी वयोबद्व पुरूष सम्बन्धी के सम्मुख बिना परदे के नहीं जा सकती। देवर और साली के साथ हसी–मजाक करने की प्रथाये और व्यवहार प्रणालियां आदिम समाज और लोक समाज में प्रचलित हैं। मामा–भानजे, दादा–पोते, या दादी–पोती के बीच हसी मजाक के सम्बन्ध वर्तमान लोक जीवन में भी दिखाई देता है।

आदिम समाज की युवा गृह की परम्परा वर्तमान लाक जीवन में परिलक्षित नहीं होती है। लेकिन वर्तमान आदिम समाजों मे युवा गृह की परम्परा अक्षुण्ण है। युवा गृह साधारणतया गाव के बाहर जगल में या जंगल के पास बना होता है। युवा गृह दो प्रकार के होते है। कहीं –कहीं लडके और लड़कियो के लिए अलग–अलग युवागृह होते है जैसे नागा जनजाति का मोंरूग और कहीं कही लड़के लडकियाँ एक ही सामान्य युवागृह के सदस्य होते है जैसे मुरिया जनजाति के धोटुल। अविवाहित लडको के युवागृह का प्रबन्ध एक पुरूष करता है और अविवाहित लड़कियों के युवागृह की देखरेख प्राय एक विधवा स्त्री करती है। कोई भी सदस्य युवागृह मे तब तक बना रहता है जब तक कि उस बालक या बालिका का विवाह नहीं हो जाता। विवाह के बाद इसकी सदस्यता अपने आप खत्म होती है। मजूमदार के मतानुसार[1] युवा गृह का जन्म वन के हिसक जन्तुओं से समाज के अशक्त व्यक्तियों की रक्षा हेतु हुई। इससे अन्य जातियों द्वारा ग्रामीण युवतियो की चोरी का भय नहीं रहता था। इसके अलावा कालान्तर मे युवा गृह की उत्पत्ति का कारण मकानो की कमी, सामूहिक जीवन का आनन्द तथा जातीय जीवन का विकास भी था। जनजातीय अनुशासन, सामाजिक एवं धार्मिक कार्य और कर्तव्य तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे समाज के बालक और बालिकाओ को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही इन युवा गृहो की स्थापना हुई है।

---

1 विजय शकर उपाध्याय और विजय प्रकाश शमा; भारत की जनजातीय संस्कृति पृ0–85

संस्कार

मानव की प्राय प्रत्येक संस्कृति मे व्यक्ति की जीवन–यात्रा के विभिन्न संक्रमण कालो का विशेष महत्व होता है। जन्म, विवाह एव मरण जीवन पथ की तीन मुख्य स्थितिया है जिनके आस–पास मानव समूह विश्वासो, रीति–रिवाजो और आचार–विचार का ताना–बाना बुन लेता है। समाज सगठन का यह पथ मानव के उत्तरोत्तर परिवर्तित होने वाले उत्तरदायित्वो एव कार्या की दिशा निश्चित करता है। समाज सगठन की इस पथ को सस्कार कहते है। अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के जीवन पर अपना कुप्रभाव डालने वाले अदृश्य विघ्नो से निरापद होने के लिए भी सस्कारों का निर्धारण हुआ। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन संस्कारो से आवृत्त रहा है जो समय–समय पर कार्यान्वित किये जाते रहे है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सारा जीवन विभिन्न संस्कारो से शुद्व और पवित्र होता रहा है। सस्कारों को सम्पन्न किये बिना व्यक्ति का जीवन अपवित्र, अपूर्ण और अव्यवस्थित था। शरीर और आत्मा की शुद्धि और पवित्रता संस्कारों के सम्पादन से ही संभव थी। जीवन को विविध बाधाओं ओर विघ्नो से दूर रखना संस्कारों का मूल रहा है। मनु ने लिखा है[1] कि मनुष्य जन्म से शूद्र पेदा होता है परन्तु वह संस्कार के द्वारा द्विज की उपाधि धारण करता है। सस्कार शब्द सस्कृत के सम् उपसर्गक "कृ" धातु से धञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है संस्कृत किया हुआ। प्रत्येक समाज अपने मूल्यों और धारणाओं को सजीव और सुरक्षित रखने के लिए उनके प्रति निष्ठा एवं विश्वास उत्पन्न करता है। इसके लिए सामाजिक तथा धार्मिक प्रेरणा व अनुशासन की आवश्यकता होती है। सस्कार इस प्रकार की प्रेरणा और अनुशासन के सफल माध्यम है। किसी भी सामाजिक विनय अथवा व्यवस्था के पीछे सदियों ओर सहस्राब्दियों का सस्कार काम करता है। हिन्दू समाज में इनका विवरण वेदिक साहित्य में नही मिलता। सूत्रो ओर स्मृतियों मे इनके विषय मे विस्तार से लिखा गया है। गौतम धर्म सूत्र मे सस्कारों की स्वीकृत तथा प्रचलित सख्या सोलह हे जिन्हे षोड्श संस्कार कहा जाता है। आजकल केवल छ संस्कारों 1 पुत्र जन्म 2 चूड़ा कर्म 3 उपनयन 4 विवाह 5 गवना और 6 अन्त्येष्टि का पालन किया जाता है। इन छ में से मुख्यत तीन ही अत्यन्त प्रचलित तथा सभी लोगों के द्वारा किये जाते हे जो इस प्रकार है। पुत्र जन्म 2 विवाह 3 मृत्यु । इन तीन सस्कारों का सम्पादन आदिम मानव, जन साधारण तथा शिष्ट लोगों के द्वारा होता है।

---

1 जन्मना जायते शूद्र सस्कारात द्विज उच्यते।

–मनुस्मृति

आर्थिक क्रियाकलाप

प्राचीन काल से ही समाज का उत्कर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन की सम्पन्नता, समुन्नति और सुख–सुविधा पर निर्भर करता है। व्यक्ति का भोतिक और लौकिक सुख उसके जीवन के आर्थिक विकास से प्रभावित होता रहता है। समय–समय पर मनुष्य के आर्थिक कार्यक्रम उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप घटते--बढत और कभी–कभी परिवर्तित भी होते रहते हैं किन्तु आर्थिक जीवन का मूलाधार कृषि और व्यापार तद्‌वत रहा है, उसमे कोई अन्तर नहीं आ पाया है। आर्थिक जीवन को उत्प्रेरित करने वाली ये प्रवृत्तियाँ[1] प्रत्येक युग में सहज रूप से स्वभावत उद्‌भुत होती रहती है जो समाज को पुष्ट और स्वस्थ बनाने में सक्रिय सहयोग प्रदान करती रही हे तथा इससे व्यक्ति और समाज का विकास स्वाभाविक गति से होता रहा है। आर्थिक कार्यक्रम व्यक्ति का मानवीय सम्बन्ध ही नही बल्कि सामाजिक सम्बन्ध भी अभिव्यक्त करता है।[2] वह अपने कार्यो और योजनाओ से अपनी तथा अपने परिवार और अपने समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

आदिम समाज ने आर्थिक क्रियाकलाप हेतु सरल उपकरणों यथा जाल, छुरी, भाला. तीर, धनुष, परशु बास की टोकरी, हल, हंसुआ, कुदाल, खुरपी, टांगी, खुनती, रस्सी, हेगा, मृदभांड, गोबर आदि का प्रयोग किया ओर अनिष्ट की आशंका को और अनेक प्रकार के विघ्न–बाधाओं को दूर करने के लिए अनुष्ठान किया। सरल उपकरण तथा अनुष्ठान दोनो आज के लोक जीवन मे अपनी निरन्तरता बनाये हुए हैं। आज भी सामान्य जनता हल, कुदाल, खुरपी, जाल, टोकरी, भाला, परशु, तीर, धनुष आदि का प्रयोग करती हे तथा विघ्न बाधाओं को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के अनुष्ठान आदि करती है। खेतों में अन्न की बोआई का कार्य जब प्रारम्भ किया जाता हे तब हल की पूजा की जाती हे । लोगो का यह विश्वास हे इससे अन्न की पेदावार बढ़ती है। दिवाली के दिन हल के विभिन्न अगों जैसे फार, जुआठि, हरिस को दीपक दिखलाकर उसका सम्मान किया जाता है। भोजपुरी प्रदेश में विवाह के अवसर पर वर को जुआठि पर खड़ा कराकर उसे स्नान कराया जाता है। कन्या पक्ष के लोग वेवाहिक मण्डप के बीच हरिस को गाडकर उसकी पूजा करते हैं। हरिस हल का सबसे प्रधान अग हे अत हल की पूजा मगलदायक होती है। ओराव नामक आदिम जाति के लोग विवाह के समय विभिन्न रूप से हल की पूजा करते हैं। अन्न का उत्पादक होने के कारण हल की पूजा समृद्वि और वेभव का कारण मानी जाती है। भारत में मछुआ लोग अपनी नाव

---

1 मार्शल · प्रिसिपुल्स अव इकनामिक्स, पृ0– 556–70

2 उद्‌धृतकर्ता डा0 जयशकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास

2 मेक्स वेवर द स्टडी आफ सोशल एण्ड इकनामिक आर्गनाइजेशन पृ0–150–54
उद्‌धृतकर्ता डा0 जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास

के अग्रभाग –अगला सिरा– पर पैर रखना निषिद्व मानते है। जूता पहिन कर इस पर पैर रखना तो अत्यन्त निन्दनीय है। अत. मछुवारे सभी को जूता पहनकर नाव के मस्तक पर पैर रखने के लिए मना करते है। नाव के निर्माण मे लगी हुई लोहे की कील जादू–टोना करने के काम मे लाई जाती है। अत ये लोग उसे देना नहीं चाहते हैं।

धार्मिक विश्वास :

साधारण जनता के धार्मिक विश्वासों, रीति–रिवाजो, विधि–निषेधों, जादू–टोना, तन्त्र–मत्र एवं अध विश्वासों आदि में भी आदिम अवशेष दिखाई देता है। आदिम मानव की भाँति आज की सामान्य जनता भी एक ऐसी अज्ञात शक्ति मे विश्वास करती है जो सर्वशक्तिमान हे जो संभव–असंभव सब कार्य कर सकती हे। प्रसन्न होने पर वह मनचाही वस्तु दे सकती है और रूष्ट होने पर हानि भी पहुँचा सकती है। यह अज्ञात शक्ति समस्त प्राकृतिक व्यापारों की संचालक है। उसे प्रत्येक प्राकृतिक व्यापार अपने ही समान धर्म वाला प्रतीत होने लगा। प्रकृति को उसने मानवीय संस्कारों से युक्त देखा। आदिम जातियो का यह विश्वास था[1] कि फूल पत्तियो से ढककर पुरूष और नारी का सयोग होने से खेत भी पौधो से लहलहाते रहेंगे। यूरोप में आज भी मई के महीने मे मई के राजा और मई की रानी के जो विवाहोत्सव हुआ करते हैं वे उस आदिम धारणा के प्रतीक है। आदिम मानव की तरह आज भी साधारण जनता प्रकृति के प्रत्येक व्यापार को रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखती हे और उसमें भी यह जिज्ञासा का भाव जाग्रत होता है कि वस्तुतः ऐसी कौन सी शक्ति हे जिनकी प्रेरणा से ये सब कार्य होते हैं। आदिम मानव जड़ और चेतन प्रत्येक वस्तु को आत्मा से युक्त मानता है। आदिम जातियों का विश्वास था कि श्वास–प्रश्वास के साथ मनुष्य की आत्मा बाहर निकल जाया करती है। इसलिए वे रात को पानी के घड़े पर ढक्कन चढ़ा देते थे ताकि आत्मा कही किसी के शरीर के निकल कर पानी पीने के लिए घड़े में प्रवेश करने के बाद खुले घड़े पर रात को किसी समय ढक्कन चढ़ाये जाने के कारण वही बन्द न रह जाय और जिसकी देह से आत्मा निकलकर गयी उसकी मृत्यु न हो जाय। इसी प्रकार जम्हाई लेने पर मुँह के सामने वे अंगुली चटकाते थे कि कही खुले मुँह से आत्मा बाहर न निकल जाय। ये दोनों प्रथाए वर्तमान लोक जीवन में भी कहीं–कही प्रचलित हे। शरीर के बाहर आत्मा के अस्तित्व का उदाहरण उन लोक कथाओं में मिलता है जिनमें किसी मायावी रूपसी या राक्षसी की आत्मा तालाव के नीचे किसी डिबिया मे या पेड़ के नीचे जड़ मे छिपी रहती थी और डिबिया खोलने पर या पेड़ काटे जाने पर उस रूपसी या राक्षसी की मृत्यु हो जाती थी।

---

1 भूपेन्द्र नाथ सान्याल आदिम मानव समाज, पृ0–93

जड़ और चेतन को आत्मा से युक्त मानने की प्रवृत्ति आज के सामान्य जनता में भी पायी जाती है। भारत ने सदा आत्मवाद को ही श्रेय दिया है। साधारण जनता ने आत्मवाद में ही मंगल निश्चित किया है। उपनिषद् ने स्पष्ट घोषणा की है[1] कि यह आत्मतत्व पुत्र से अधिक प्रिय है धन से अधिक प्रिय है, अन्य सबसे अधिक प्रिय है, आत्मा इनकी अपेक्षा अन्तरतर है। आत्मारूप प्रिय की ही उपासना करे। इसी आत्मोपासना की परिव्याप्ति भारतीय लोक जीवन मे, झोपड़ी और राजमहल में, नगर और ग्राम में साकार और निराकार रूप से स्वभावगत है।

आदिम मानव मृत व्यक्ति को सोये हुए व्यक्ति के सदृश्य समझता था। इसी से उसके शव के साथ आवश्यक सामग्री रखने की व्यवस्था की गयी। हिन्दू समाज में आज जो श्राद्व आदि के समय विभिन्न सामग्री देने की प्रथा है वह संभवत इसी आदिम मानस का अवशेष है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जो-जो वस्तुएं यहां उस मृत व्यक्ति के नाम से संकल्प कर दी जा रही है वे उसे प्राप्त हो जायेगी और वह सन्तुष्ट होगा।

आदिम मानव की भाँति आज भी सामान्य जनता एक ही समय में विधि-निषेध दोनो कार्यो में रत मिलती है। प्रसन्न होकर अथवा कारण विशेष से वह अनेक अनुष्ठान करती है दूसरी ओर उसमें किसी प्रकार की बाधा न हो इस भय से टोने-टोटकों को भी करती है। यह वैषम्य वर्तमान लोक जीवन में सर्वत्र देखने को मिलता है। आज भी विवाह जैसे अवसर पर विभिन्न अनुष्ठानो के साथ किसी भी प्रकार की विघ्न बाधा न हो इस भय से समस्त आधि-व्याधियों को न्योत कर एक घड़े मे बन्द करते हुए साधारण जनता को देखते है।

आज की साधारण जनता मे विभिन्न प्रकार के आंधविश्वास प्रचलित है जैसे देवी-देवताओं की कृपा से सन्तान की प्राप्ति। कोई फल, ओषधि जो आर्शीवाद के रूप में दी गयी हो, उसके कारण सन्तान की प्राप्ति। इन अंधविश्वासों के पीछे आदिम मानव के कार्य-कारण सम्बन्ध की अनभिज्ञता तथा संयोग को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति को आधार के रूप में देखा जा सकता है। आदिम मानव व्यक्ति के अस्तित्व को न मानकर दल के अस्तित्व में विश्वास करता था। अभी कुछ समय पहले तक ऐसी धारणा थी कि जिस गाव में कन्या का विवाह कर दिया जाता था, उस गांव का कन्या पक्ष के लोग जल तक ग्रहण नहीं करते थे। इसी का रूप आज भी यह देखा जा सकता है कि

---

1 सम्मेलन पत्रिका लोक सस्कृति अंक
श्री राम लाल भारतीय लोक संस्कृति की अध्यात्म भूमि, पृ0-88

अब कन्या पक्ष के लोग उस घर का जल ग्रहण नहीं करते। इस अध विश्वास के पीछे आदिम मानव की इस वृत्ति को आधार के रूप मे देखा जा सकता है।

आज भी साधारण जनता में नाम से व्यक्ति को अभिन्न समझने की आदिम प्रवृत्ति विद्यमान है। ऐसे विश्वास कि बड़ों के नाम नही लेना चाहिए, उनके नाम जमीन पर न लिखे होने चाहिए जिससे पैर न पड़े आज भी प्राय प्रत्येक घर मे देखे जा सकते हैं। उनसे उन व्यक्तियों के अपमान की कल्पना की जाती है। अनेक प्रकार के आदिम निषेध की प्रथा आज भी साधारण जनता के बीच प्रचलित है। रजस्वला नारियों को अशौच मानने की प्रथा आज भी चली आ रही है। मृत्यु जनित अशौच की प्रथा भी अति प्राचीन है। पति-पत्नियों के परस्पर नाम उच्चारण न करने की प्रथा आज भी हमारे देश मे प्रचलित है।

आदिम मानव की तरह आज भी साधारण जनता अभीष्ट कार्य की सिद्दि हेतु अनुष्ठान का आयोजन करती है। विशिष्ट फल की कामना से अनेक व्रतों का प्रचलन वर्तमान लोक जीवन में प्रचलित है। सोभाग्य की कामना से करवा चोथ का व्रत और सन्तान की कामना से सप्तमी का व्रत आज भी स्त्रियां रखती है। मंत्र तत्र और टोने में भी आदिम मानव की इसी प्रवृतित के दर्शन होते है। आज भी मंगल कामना अथवा अभीष्ट सिद्धि के हेतु मंत्र जाप की प्रवृत्ति साधारण जनता में देखी जा सकती है। तंत्र ओर टोनों में भी यही भाव है जेसे अमुक टोना करने से अमुक कार्य की सिद्धि हो सकती है।

लोक साहित्य एवं लोक कथाएं

साधारण जनता के गीतो, कहानियों, नाटकों पहेलियो, नृत्य, सगीत एवं चित्र कला आदि मे भी आदिम मानस अभिव्यक्त होता है। लोकगीत और लोक कथाओं मे इनके अत्यधिक रूप मिलते हैं क्योंकि लोक मानस का उदात्तीकरण सबसे ज्यादा इन्ही के माध्यम से होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने लोक साहित्य को बहुत कुछ आदिम जातियो का आत्मकथात्मक उत्स ही माना है। एक बड़ी सीमा तक वहऐसा है भी, पर इससे अधिक भी वह बहुत कुछ है। उसमें जो विश्वास, परम्पराएं, जादू-टोने और देवी चमत्कार के गीत, उक्तियाँ और वार्ताएं है थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में आाधुनिक लोक जीवन में भी उनका प्रचलन है। अंग्रेजी के प्रसिद्व विद्वान टाइलर और लेग ने इस मत को प्रतिपादित किया है।[1] आदिम जाति की आत्मकथात्मक अभिव्यक्तियो और प्रतिक्रियाओं

---

1 सम्मेलन पत्रिका लोक संस्कृति विशेषांक पृ0-100

के साथ ही उपदेशको, कवियो, समाज व्यवस्थाकारों ने अपने समय के धार्मिक विचारों, विश्वासो, सामाजिक मान्यताओं और मूल्यो को भी लोकवार्ताओं, लोकगीतों और लोकोक्तियो के माध्यम से व्यक्त किया। जिस प्रकार माताए आज भी जहाँ अपने बच्चो के मनोरंजन के लिए परियो, उड़ने वाले घोडे, आकाश मे चलने वाले हाथी तथा जादू जानने वाले राजकुमार की कथाएं सुनाती है पर साथ ही जिद्दी बच्चों को चुप करने या सुलाने के लिए भूत, डाक या राक्षस की कहानी भी सुनाती हे उसी प्रकार धर्माचार्यो ओर समाज व्यवस्थाकारों ने भी मानव–आचरण को सत् की दिशा में ले जाने के लिए नरक की विविध यातनाओ, ईश्वर, इस जनम के भले–बुरे कर्मो का तदनुसार अगले जन्म में फल भोगने की कल्पनाएं की है। धर्मगाथाएं भी आदिम मानस से युक्त होती है। "लेविस" ने एन इन्ट्रोक्शन टू माइथोलाजी" में धर्मगाथा के विषय मे कहा है[1] कि इनमें किसी देवता अथवा अज्ञात सत्ता का विवरण होता है। धर्मगाथा के माध्यम से मानव का संसार से क्या सम्बन्ध है, समझाया गया है। इस प्रकार इसके मूल मे आदिम तत्व रहता है। उपयोगिता और आनन्द जीवन की दो प्राधान प्रवृत्तियाँ है। उपयोगिता में जीवन का स्थूल पोषण सन्निहित है तथा आनन्द में सूक्ष्म। मनुष्य ने अपने जीवन के चारो ओर आनन्द की रचना की है। आनन्द के ये अनन्त रूप कब और किस समय मानव जीवन में प्रस्फुटित हुआ वह स्वयं नहीं जानता। संगीत वाणी का विलास, साहित्य भावनाओं का विलास तथा चित्र कला दृष्टि का विलास, दृष्टि का सुख है। तीनों प्रकार के विलासों को लेकर मनुष्य ने ऐसे आनन्द की रचना की है जिसके आदान प्रदान में वह द्वेष रहित होकर सुहृद समूह में सम्मिलित होता है और बिना कृपणता का आश्रय लिए इनका सुख लेता है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ अनादि काल से मानव हृदय में पोषित होती चली आ रही है। लोक जीवन में इन तीनों विलासों की अभिव्यक्ति अनेकानेक रूपों में विद्यमान है।

सर्वप्रथम भावनाओं का विलास है जिसका प्रेम, करूण और क्रोध भर हृदयों से हुआ है परन्तु देखा गया है कि प्रत्येक प्राणी अपनी भावनाओ को दूसरों तक पहुँचाने मे असमर्थ होता है। वह तो केवल अश्रुपात, दीर्घ विश्वास और अधर दंशन तक सीमित रहकर एक प्रभाव उत्पन्न कर देता है, उसके अन्तर की पुकार सुनने वाला, उसकी अन्तरात्मा में पैठकर उसकी पीड़ाओं का मार्मिक विवेचन और प्रदर्शन करने वाला एक दूसरा ही व्यक्ति होता है, जो आँखे फाड–फाड़कर, कान लगा–लगाकर दूसरों की व्यथा को देखा और सुना करता है। यह प्राणी कब, किस्के सम्मुख अपने उद्गार उगलता है? उसे किसी ने नहीं देखा, वह तो न जाने किस अज्ञात बेला में कुछ कह गया जो केवल

---

1 डा0 सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अययन, पृ0–38

श्रुति और स्मृतियों के आधार पर जीवित है। उसकी मर्मान्तक पुकार जनसमूह की भावनाओ मे गीत बनकर फूट निकलती है, सहस्र-सहस्र जिह्वाये उसे गा उठती हैं। उस नववधू की कातर वाणी जो घूंघट के कपाटों मे बदी है, उस प्रवासी के निश्वास जो लोक-लाज के प्रकाश में नहीं आते, उस विद्रोही की हुंकार जो रात्रि के गहन अंधकार मे विषधर की पुकार की तरह सुनी जाती है, यही प्राणी उसे बटोरता है और उन पगडण्डियों में बिखेर देता है जो बल खाती हुई पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक चली गयी है। उत्सवों, विवाहों, मेलो और देवार्चनों के उपलक्ष में प्रस्फुटित हुए उद्‌गार जो तत्काल अन्तर से निकलकर जिह्वा पर आ जाते है और अपनी व्यापकता को अमर बना जाते हैं। कुछ उद्‌गार वे है जो वनान्तर के किसी कोने मे बकरियाँ चराते समय, गायें चराते समय, किसी अज्ञात कण्ठ से फूट निकलते है। आज के लोकगीत उन्ही अज्ञात स्वरों की ध्वनियाँ है जिनके प्रत्येक वाक्य मे अन्तर की ज्वालाएं अकित है। ये गीत सरोवर के तट पर, किसी एकान्त पर्वत उपत्यका के वृक्ष के नीचे, किसी टूटे छप्पर की भग्न कुटीर में प्राय· गाये जाते है। श्रृंगार की विविध भावनाएं श्रृंगार की अनेक प्रेरणाए इनमें भरी रहती है, यहाँ तब कि जीवन की व्यापक ओर आधुनिक समस्याएं भी इन गीतो का एक अंग है जो मेलो, तमाशो में सुनाई पड जाती है। लय, संगीत और कविता आदि मानव के श्रम से पैदा हुई है। आज भी साधारण जनता शारीरिक थकावट को दूर करने के लिए किसी काम को करते समय गाना गाती है।

लोकोक्ति, कहावतों और मुहावरों के मूल में भी आदिम मानस व्याप्त होता है। पहेलियों का आनुष्ठानिक प्रयोग भारत में ही नहीं ससार के अन्य देशों में भी मिलता है। फ्रेजर महोदय ने बताया है [1] कि पहेलियो की रचना उस समय हुई होगी जब कुछ कारणो से वक्ता को स्पष्ट शब्दों मे किसी बात को कहने में अड़चन होती होगी। इनका विशेष सम्बन्ध आदिम अनुष्ठान एवं टोने-टोटको से होता है।

नृत्य और संगीत की अक्षुण्ण परम्परा आदि काल से आधुनिक युग तक निरन्तर प्रवाहशील रही है। आज भी साधारण जनता का जीवन नृत्य और सगीत से ओतप्रोत है। प्राचीन काल में लोगों का यह विश्वास था कि नृत्य से प्रेतात्माएं प्रसन्न होती है। अतएव वे इन दुष्ट आत्माओं को प्रफुल्लित रखने के लिए नृत्य कर्म करती थी। इन आदिम लोगों में नृत्य का एक दूसरा उद्‌देश्य था अपनी खेती की पैदावार को अधिक बढ़ाना। आजकल भी असम राज्य के विभिन्न जाति के लोग फसल काटने के अवसर पर

---

1 फ्रेजर गोल्डेन बाउल, पृ0-121 नवां भाग
उद्‌धृतकर्ता डा0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा

विहू नामक नृत्य करते हैं। सगीत लोक जीवन का इतना आवश्यक अंग है कि बिना इसके कोई उत्सव, कोई प्रसन्नतापूर्वक समारोह, कोई देवपूजा कोई जीवन के व्यवहारिक कार्य सम्पादित नहीं होते। नृत्य पर आदिम मानव की श्रम साधना का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। देहातों के धोबी, कहार और अहीर इत्यादि जातियों के नृत्य में श्रम साधना के लक्षण अब भी अवशेष मिलते हैं। उन पर उनके पेशो का भी स्पष्ट प्रभाव है। धोबी के नृत्य गीतों में कपड़े धोने की बात या घाट पर जाने इत्यादि की स्पष्ट छाप मिलती है। नृत्य पर "विशेष समुदाय के पेशों का पर्याप्त प्रभाव था। शिकार करने वाली जातियाँ उस प्रकार के विशेष नृत्य करती थी जिनमे शिकार के पकड़े जाने की नकल हो। खेतिहार समुदाय के नृत्यों में कटाई, बोआई, रोपाई आदि के चित्र मिलते हैं। इसी प्रकार उनकी खुदाई, चित्रकला और शिल्पकला भी इसी भावना से भरी है।"[1]

इन सबके अतिरिक्त जो विभिन्न लोक कलाए देखने में आती है, वे मात्र सोन्दर्य की प्रतीक नहीं, अपितु वे सभी आदिम मानस के अवशेषो के रूप है। विभिन्न त्योहारो के अवसर पर जो चौक पूरी जाती है वे इसका प्रमाण है। उनमें यदि ध्यान से देखा जाय तो सूर्य, चन्द्र, मानवाकृतियाँ सभी बनती है और उनको देखकर ही कथा का रुप सामने आ जाता है।

इस प्रकार आज भी साधारण जनता के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सास्कृतिक क्रियाकलापों साहित्यिक एवं ललित कलाओं आदि सभी क्षेत्रों में हमें आदिम अवशेष दिखाई देते हैं।

---

1 इरनेस्ट ग्रोसे · द विगनिग आफ आर्ट पृ0-231
उद्धृतकर्ता श्री मार्कण्डेय – लोक कला का उदय।

<u>आधिग्रहण</u> (नागरिक सभ्यता से प्रभाव ग्रहण)

लोक जीवन सदेव गति और स्पन्दन से युक्त रहता है। युग के अनुरूप वह अपने मे सशोधन एवं परिवर्तन करता चलता है। लोक जीवन मे एक ओर जहाँ आदिम अवशेष परिलक्षित होता है वहीं दूसरी ओर नागरिक सभ्यता के अनेक तत्वों को सहज ओर सरल रूप मे ढालकर अपने में आत्मसात कर लेता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक काल से ही इस देश में संस्कृति की दो पृथक-पृथक धाराए प्रवाहित हो रही थी। शिष्ट सस्कृति ओर लोक संस्कृति। शिष्ट संस्कृति और लोक संस्कृति का पृथक्कीकरण करते हुए डा0 कृष्णदेव उपाध्याय ने लिखा है कि "शिष्ट संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस अभिजात वर्ग की संस्कृति से है जो बौद्विक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ था तथा जिसकी संस्कृति का स्रोत वेद या शास्त्र था। लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जनसाधारण की उस संस्कृति से हे जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी जिसकी उत्स भूमि जनता थी और जो बौद्विक विकास के निम्न धरातल पर उपस्थित थी। यदि श्रग्वेद तथा अथर्ववेद का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है।"[1] दोनों प्रकार की संस्कृति एक समान भावधारा को लेकर चलती है। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए लिखा है- "लोक सस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रियाकलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनो संस्कृतियो में परस्पर सहयोग अपेक्षित है। इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है। ये दोनों संहिताएं दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचायिकाएं है। अथर्ववेद लोक संस्कृति का परिचायक है तो ऋग्वेद शिष्ट संस्कृति का। अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जन जीवन हे तो ऋग्वेद का विशिष्ट जनजीवन है।"[2] शिष्ट सस्कृति और लोक संस्कृति की धारायें इस देश मे प्राचीन काल से लेकर आज तक निरन्तर प्रवाहित होती रही है। भारतीय संस्कृति की पहचान उसकी समन्वयात्मक प्रकृति है। यही बात हमे लोक जीवन में भी दिखाई देता है। वह युगीन संस्कारों से प्रभावित होता है और सदेव उन्हें अपने साथ लेता चलता है। बदलती हुई परिस्थितियों के प्रभाव से एक ओर लोक जीवन में परिवर्तन होता रहता है दूसरी ओर उसके सांस्कृतिक आयाम भी प्रभावित होते हैं, बदलते हैं। इन परिवर्तनों के मूल मे ध्यान से देखने पर पता लगता है कि आर्थिक विषमता तथा वाह्य प्रभाव से बदलते जीवन मूल्यो एव दृष्टिकोंणो के सन्दर्भ महत्वपूर्ण है। मनुष्य के जीवन और सामाजिक संस्कार, धार्मिक विश्वास, साधना के रूपों, दार्शनिक चिन्तन, आर्थिक क्रियाकलाप सभी मे युगीन

---

1 डा0कृष्णदेव उपाध्याय. लोक साहित्य की भूमिका, पृ0-29

2 "समाज" (काशी विद्यापीठ) वर्ष 4, अक 3 (1958) पृ0-446

प्रभावों को देखा जा सकता है। साधारण जनता परिस्थितियो के अनुरूप अपने को ढाल लेती है। उसकी धार्मिक विश्वासो में भी युगीन प्रभाव दिखाई देता है, जैसे किवदन्ती है कि प्रयाग आदि तीर्थ क्षेत्रों मे अब जो मस्तक मण्डन की प्रथा है यह पहले के मस्तक दान की लुप्त प्रथा का चिन्ह भाल है। इस प्रकार जब थोड़े त्याग के लिए मनुष्य तैयार न हो तब नारियल, ईख, फल आदि प्रतीकवत देवता को चढाने की प्रथा आरम्भ हई होगी। इसी प्रकार बोद्व गुप्त संस्कृति, सूफी एवं अन्य सभी संस्कृतियों का प्रभाव लोक मानस के इस स्तर पर देखा जा सकता है। आज जो संकटा चोथ के व्रत के दिन पूजा के समय तिल गुड का बकरा बनाकर बाटा जाता हे वह आदिकालीन नर बलि का अवशिष्ट रूप ही है। इसमें बलि द्वारा देवता को सन्तुष्ट करने की वृत्ति आदिम वृत्ति का परिचायक है। किन्तु युगीन प्रभावों के कारण नर बलि ने पशु बलि का रूप धारण किया होगा, अहिंसा की वृत्ति से वह भी समाप्त हो गया किन्तु फिर उसको प्रतीक रूप मे तिल गुड के बकरे के माध्यम से पूर्ण किया गया। इस प्रकार लोक मानस द्वारा हमें मानव सभ्यता के विकास की सीढ़ियो का ज्ञान होता है। जन्मान्तरवाद के विषय मे साधारण जनता की धारणा रहती है कि जीवन कभी समाप्त नही होता है। जन्मान्तरवाद मे विश्वास के कारण ही कर्मवाद मे लोकमानस की दृढ़ आस्था देखने को मिलती है। वे जीवन में सुख दु ख को भगवान की अनुकम्पा, कोप न मानकर कर्मो का फल मानते थे। कर्मवाद में दृढ़ विश्वास होने से व्यक्ति मे सहनशीलता की शक्ति बढ़ जाती हे और वह फिर किसी भी प्रकार की किसी से सहानुभूति की आशा नहीं करता। वह उसको अपने भाग्य का लेख मान लेता है और तब वह यह सोचता है कि जो होना है वह होकर रहेगा अर्थात् भवितव्यता को कोई टाल नही सकता चाहे कोई लाख जतन क्यों न करे। बौद्व सम्प्रदाय के परिणाम स्वरूप लोक मानस ने संसार की क्षणभगुरता को भी अनुभव किया।

साधारण जनता के सामाजिक संस्कारो पर भी युगीन प्रभाव को देखा जा सकता है। जैसे मध्य युग की परिस्थितियों मे स्त्री जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुए। सामान्यत इन परिवर्तनों की प्रवृत्तियॉं थी नियंत्रण संकोच एवं ह्रास" मध्ययुगीन ससकार पुत्र जन्म पर आनन्द और कन्या जन्म पर शोक ने तो अब परम्परित रूप धारण कर लिया है। इसी से लोक जीवन में भी लोक मानस पुत्र जन्म के अवसर पर अपनी प्रसन्नता नाना प्रकार से प्रकट करता है और पुत्री जन्म के अवसर पर गम्भीर हो जाता है आज के लोक जीवन में पर्दा प्रथा का प्रचलन मध्य युग की देन है।

नागरिक सभ्यता के अत्यधिक विकसित होने के परिणामस्वरूप मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। साधारण जनता ने अनेक नये कार्य रिक्शा चालन, मशीन चालन, कारखाना,

मजदूरी का कार्य अपना लिया है। सचार, परिवहन तथा अन्य आधुनिक आविष्कारो से साधारण जनता परिचित हो चुकी है। समसामयिक परिस्थितियो का प्रभाव साधारण जनता पर भी पडता है। भारतीय स्वतत्रता संग्राम में भाग लेने वाले कई भारतीय वीरों ने सामान्य जनता को अत्यधिक प्रभावित किया और वे सामान्य जनता के बीच नायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। लोकगीतों में समसामयिक प्रभावों को देखा जा सकता है। स्वतंत्र भारत मे विकास सम्बन्धी अनेक योजनाओ के कार्यान्वित होने के परिणामस्वरूप परिवर्तन की एक नयी रूपरेखा निर्मित हुई। देश का लोक जीवन भी परिवर्तित हुआ। नवीन जागरण की नयी चेतना का विकास हुआ। आज साधारण जनता चुनाव, राजनीति, प्रजातंत्र, पचायती राज आदि से पूर्णतया परिचित है। इस प्रकार साधारण जनता ने नागरिक सभ्यता के जटिल स्वरूप को छोड़कर सहज और सरल रूप को ही अपनाया। लोक मानस प्रत्येक अनुभव को इतने सहज रूप में अभिव्यक्त कर देता है कि उसका सीधा प्रभाव मानस पटल पर पड़ता है। इसी से व्यक्ति इन्हे भूल नही पाता। नागरिक सभ्यता के प्रभावो को ग्रहण करते समय भी लोक जीवन अपनी सहजता और सवाभाविकता को नही छोड़ता। सहजता, स्वाभाविकता और अकृत्रिमता ही लोक जीवन का मूल आधार हे इसीलिए वर्तमान युग मे भी लोक जीवन जीवित एव प्राण सम्पन्न दिखायी देता है।

***

द्वितीय अध्याय

लोक चेतना के विविध आयाम: मिथिलाचल के विशेष सन्दर्भ में

1 राजनीतिक आयाम

2 सामाजिक आयाम

3 आर्थिक आयाम

4 धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयाम

*****

द्वितीय अध्याय

लोक चेतना के विविध आयाम (मिथिलाचल के विशेष सन्दर्भ में)

लोक चेतना के स्वरूप के सम्यक् विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक चेतना की अभिव्यक्ति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। लोक में प्रचलित सभी कोटि की जातीय, सास्कृतिक, सामाजिक क्रियाएं और गतिविधियाँ, हस्तशिल्प, कारीगरी, उद्योग, यत्र, निर्माण, अस्त्र-शस्त्र, चित्र रचना, भवन निर्माण, रेखांकन, अल्पना, गोदना, देवी-देवता, पूजा-विधि, अभिचार-उपचार, जादू-टाना, स्तुति-प्रार्थना, मन्त्र, झाड-फूँक, हिसाब-किताब, आहार, वेश-भूषा, रहन-सहन, त्योहार, प्रथाएँ, रीतियाँ, आदते, मुद्रा संकेत, अंध-विश्वास, उत्पादन के ढग, आर्थिक व्यवहार, नाप-जोख, भाषा, बोल-चाला के विशेष प्रयोग, लोक कथा , लोक गाथा, पुराण कथा, लोक गीत, लोक नृत्य, लोक नाट्य, लोक वाद्य, लोक संगीत, लोकोक्ति, पहेलिका आदि मे लोक चेतना के स्वरूप का दर्शन होता है। इस प्रकार लोक चेतना का विस्तार लोक सस्कृति के सम्पूर्ण क्षेत्र तक है। डा0 कृष्णदेव उपाध्याय कहते है कि[1] लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तुएँ आ सकती है व सभी लोक संस्कृति के क्षेत्र के भीतर हैं। लोक चेतना परम्परागत गतानुगतिक अशास्त्रीय मान्यताओं तथा जीवन विधियो का प्रवाहमान स्वरूप है।[2] यह लोक जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सास्कृतिक पक्षों की परिवर्तित एव परम्परित, गतिशील एव स्थिर वास्तविकता तथा तज्जन्य मानसिकता है।

लोक परिवेश अपने यथार्थ की विभिन्न भगिमाओ मे भौतिकता के नये तकाजों, प्राचीन-नवीन मूल्यों के तनावों, अन्त बाह्य जीवनगत अभावों एव अन्य सगतियों-विसंगतियों के बे-मेल स्वरों को समाहित किये हुए हैं। लोक परिवेश की जीवन्त मानसिकता लोक चेतना ही है। जिसके माध्यम से हमें उसका अतीत एवं वर्तमान एक साथ दृष्टिगत होता है। भारतीय लोक परिवेश विविधताओ का अद्भुत जंगल है। उनकी रीति-नीतियाँ, परम्पराएं और मान्यताएं, रहन-सहन, आचार-विचार, रोजी-रोटी कमाने के तौर-तरीके आदि सभी कुछ तो भिन्न है। कही जीविका अर्जन के लिए वहाँ के साधारण आदमी को खेतों में हल चलाना पड़ता है तो कहीं तीर-कमानों का खेल जान हथेली पर लेकर खेलना पड़ता है। कही समुद्र और नदियो में जाल बिछाने पड़ते

---

1 डा0 कृष्णदेव उपाध्याय लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृ0-16

2 डा0 ऊषा डोगरा हिन्दी के आचलिक उपन्यासों का लोकतात्विक विमर्श पृ0-94

है तो कहीं शासन के अत्याचारो का शिकार बनना पड़ता है। लोक–जीवन की प्रमुख जीवन–सरणियो के अनुरूप उसके स्पष्ट विवेचन के लिए हम लोक चेतना को चार प्रमुख आयामो मे विभक्त कर सकते हैं। वे हैं– राजनीतिक आयाम, सामाजिक आयाम, आर्थिक आयाम एव धार्मिक तथा सांस्कृतिक आयाम।

<u>राजनीतिक आयाम</u> :

राजनीतिक–चेतना लोक परिवेश की वह परिवर्तित अपरिवर्तित क्रियाशील मानसिकता है जो राजनीति से प्रेरित एव परिचालित है। साधारण जनता के विषय मे यह बद्ध–मूल धारणा है कि वे सहज और सरल होते है, राजनीति से उन्हें कोई सरोकार नही होता। नूतन सदर्भो में आज यह बात सत्य नही है। भारत के गाँव एव अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर विभिन्न देशों की ग्रामीण जनता इसका स्पष्ट उदाहरण है। यदि हम अपने ही देश के साधारण जनता की राजनीतिक चेतना को देखे तो हमारा स्वाधीनता सग्राम ही एक बड़ा उदाहरण है जिसमें गाँव और नगर की साधारण जनता ने कन्धे से कन्धा मिलाकर–स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी। यह बात और है कि स्वतंत्रता से पूर्व हमारे ग्रामों का वर्तमान स्वरूप नही है लेकिन यह एक जीवन्त सत्य है कि पहले भी गाँवों में थाड़ी बहुत राजनीतिक चेतना के बीज थे जो बाद मे पल्लवित एवं पुष्पित हुए। जन–साधारण की राजनीति लोक–राजनीति कहलाती है। इसके अन्तर्गत ग्राम पंचायत, ग्राम व्यवस्था ग्रामीण दलबन्दी आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त लोगों की आपसी फूट, लड़ाई–झगड़े, मुकदमेबाजी तथा लोक दण्ड आदि लोक राजनीति के ही अंग है। शासन के प्रति सामान्य जनता के विचार तथा शासन के वे समस्त कार्य जिससे लोक राजनीति प्रभावित होती है आदि भी जन साधारण के राजनैतिक जीवन के अन्तर्मन आते है।

साधारण जनता जेसे–जेसे विकास के पथ पर अग्रसर होती गयी वेसे–वेसे उसकी राजनीतिक चेतना भी विकसित होती गयी। स्वतत्रता के बाद हमारे देश की साधारण जनता मे राजनीतिक चेतना की लहर पचायत राज, व्यस्क मताधिकार संविधान के धर्म निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक स्वरूप आदि विभिन्न राजनीतिक कार्यो से आई है। आज साधारण जनता भी अपने अधिकारों को जानती है और उसके प्रति जागरूक है। किसान सभा, मछुआ सभा आदि विभिन्न प्रकार के संगठन देश के दूरस्थ प्रदेशों में भी बन रहे है और अपने अधिकारों के लिए साधारण जनता निरन्तर संघर्षशील है। लोक–जीवन मे उभर रही राजनीतिक चेतना का समसामयिक परिवेश में अत्यन्त महत्व है। श्री ए0आर0देसाई का मत उचित ही है– "वास्तव में ग्रामीण कृषकों के मध्य उत्पन्न राजनीतिक जागरूकता और उसके दिनोदिन बढते हुए राजनीतिक क्रियाकलाप आज के

मानवीय राजनीतिक जीवन के महत्वपूर्ण पहलू है।"[1] आज सम्पूर्ण भारत के सदृश मिथिलाचल की साधारण जनता भी चुनाव, पंचायती राज, दलीय प्रतिबद्वता, राजीनतिक दल और जातीयता, समाजवादी विचारधारा तथा अन्य आधुनिक राजनीतिक तत्वो को अच्छी तरह समझती है। ये सभी तत्व लोक चेतना के राजनीतिक आयाम के अन्तर्गत आते है। राष्ट्रीय एव तात्कालिक युगबोध से साधारण जनता को परिचित कराने वाला माध्यम विज्ञान है। विज्ञान की सहायता से सचार साधनो की पहुँच अब साधारण जनता तक हो गयी है। आज साधारण जनता टेलीफोन, तार, रेडियो, टेलीविजन, रेल, जहाज, अखबार आदि से पूर्णतया परिचित है। सचार साधनों ने साधारण जनता की राजनीतिक जागरूकता को बढ़ाने मे महान योगदान दिया है। इस प्रकार लोक चेतना के राजनीतिक आयाम का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। सम्पूर्ण भारत के सदृश मिथिलांचल की साधारण जनता भी आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों ओर गतिविधियो को सहज और सरल रूप मे ग्रहण करती हे ओर युगों से सचित अपने जीवन मूल्यो के साथ उसका तादाम्य स्थापित कर लेती है।

सामाजिक आयाम

साधारण जनता की सामाजिक सगतियों–विसगतियो जीवनगत अभावों, जड़ताओं, जीवन–मूल्यो एव विश्वासों और उनके खण्डित–विखण्डित स्वरों से उद्भूत क्रियाशील मानसिकता सामाजिक लोक चेतना है। जन–साधारण के सामाजिक जीवन के अन्तर्गत लोगो का खान–पान, वेश–भूषा, आवास एवं जीवनयापन के विभिन्न तोर–तरीके, बाल विवाह, विधवा विवाह, बहु विवाह तथा अन्य वैवाहिक रीति–रिवाज आते हैं। इसके अतिरिक्त तलाक, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, अस्पृश्यता एव ऊँच–नीच आदि की प्रथाएं इसी के अन्तर्गत आती है। माता–पिता एवं गुरूजनों की आज्ञा का पालन करना, उनका सम्मान करना तथा उनकी सेवा करना जैसे विधिपरक आचरण तथा चोरी, जुआ आदि निषेधात्मक आचरण एवं सौत, सास–बहू आदि विभिन्न सामाजिक सम्बन्ध इसके विषय होते है। सरकारी अधिकारियों एवं महाजनों द्वारा जन–साधारण का शोषण करना, व्यभिचार, स्त्री–शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि से सम्बन्धित समस्याएं तथा ग्राम्य सुधार हेतु इन समस्याओ के समाधान हेतु किये गये प्रयास इसके विषय है।

---

1 एoआरoदेसाई रूरल सोशियालोजी इन इण्डिया, पृo–46

साधारण जनता के विभिन्न वर्गो की सामाजिक रीतियो, अभिवृत्तियो एवं मूल्यो मे विषम ढंग से परिवर्तन हो रहे हे ओर सामाजिक जीवन का प्रत्येक पक्ष इस सक्रमक मे फँसा हुआ है तथा ये सभी पक्ष परस्पर सम्बद्व है। सामाजिक जीवन के इस परम्परानुमोदित ढाँचे में यह संक्रमण आधुनिक बोध का प्रतिफल हे। "सबसे पहले आधुनिकता–जीवन के धर्म निरपेक्षता, विवेक सम्मत्, वेज्ञानिक ओर औद्योगिक मार्ग के अर्थ में– भारत मे अंग्रेजी शासन–काल मे पश्चिम से आई थी।"[1] उसी का परिबर्द्धित एव सशोधित रूप आज के बदले सन्दर्भो में नयी मूल्यवत्ता हे जो उत्तरोत्तर गतिशीलता प्राप्त कर रही है। मूल्यो का मूल्यो से पारस्परिक सघर्ष इस नवीन दृष्टि का द्योतक है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परस्पर विरोधी मूल्य एक दूसरे से टकराकर टूट रहे है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम हे। मानव जीवन ओर मूल्य दोनों ही इसकी प्रभाव व्याप्ति के क्षेत्र हैं। मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धो उनके क्रियाकलापों, उनके सोचने–विचारने के तौर–तरीको, उनकी मान्यताओं एव विश्वासों एव उनकी रीति–नीतियों आदि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जीवन की एक विशिष्ट प्रणाली से होता हे जिससे उनके व्यवहार नियन्त्रित एव नियमित होते हैं। यह जीवन प्रणाली कुछ विशिष्ट सिद्वान्तों पर आधारित होती हे, जिन्हे जीवन–मूल्य कहते हे। जीवन की भाँति मूल्य भी संक्रमणकाल मे निरन्तर सक्रमित होते रहते हैं। जीवन मूल्यो के अतिरिक्त सामाजिक सम्बन्ध–वेयक्तिक और पारिवारिक सम्बन्ध, युगीन प्रभाव के परिणामस्वरूप तनाव ओर विघटन, योन चेतना, अनेक प्रकार के विवाह, सामाजिक कुप्रथाएं जैसे बाल–विवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि लोक चेतना के सामाजिक आयाम के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार लोक चेतना के सामाजिक आयाम का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

सम्पूर्ण भारतवर्ष के सदृश मिथिला मे भी हिन्दू और मुसलमान दोनों निवास करते हैं। मिथिलांचल में बसने वाले हिन्दुओ को दो वर्गो मे विभक्त किया गया हे– सवर्ण और अवर्ण। विलियम कुक्र के अनुसार सवर्ण हिन्दू वे हे जिनके अन्न और जल उच्चवर्णो द्वारा ग्रहण किये जाते हैं और अवर्ण वे हे जिनके अन्न और जल ग्रहण नहीं किये जाते।[2] इन अवर्णो को अछूत माना जाता हे और उनके शरीर के स्पर्श हो जाने पर सिद्वान्त अथवा जल को अपवित्र मानकर फेक दिया जाता है। अगर धोखे से किसी ने अछूत के अन्न अथवा जल को ग्रहण कर लिया तो उसे शास्त्र सम्मत विधानानुकूल प्रायश्चित करना पड़ता है। यद्यपि आज के युग में यह विभेद अनावश्यक तथा

---

1 बिट्रिस पिटनी लेम्ब भारत एक बदलती दुनिया, पृ0–5
उद्धृतकर्ता· डा0 ज्ञानचन्द्र गुप्त स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना।

2 उद्धृत कर्ता ताराकान्त मिश्र मेथिली लोक साहित्य का अध्ययन पृ0–56

अनुपयोगी सिद्ध होने के कारण मिटता जा रहा है फिर भी कुछ अंशों में यह अब भी वर्तमान है। मिथिला में उपलब्ध प्रमुख हिन्दू जातियाँ निम्नलिखित है[1]–

सवर्ण हिन्दू

ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, खत्री, भूमिहार, सोनार, ठठेरी, लोहार, कुम्हार, गोआर, हजाम (नाई), हलुवाई, मलाह, माली, तमोली, कोइती, बीन, क्योट (केवट) धानुख, अमात, कुर्मी, भाट, दसोन्ही ओर सन्यासी।

अवर्ण हिन्दू

चमार, धोबी, मुसहर, तेली, सूडी, कलवार, पासी, डोग, धनिकार, हलखोर (मेहतर) दुसाध, खतबे ओर ततमा।

प्रारम्भ मे इस्लाम धर्म के अनुयायियो मे जाति–पाँति का कोई भेदभाव नही था। कालान्तर में रक्त की पवित्रता के आधार पर मुसलमानो में ऊँच–नीच की भावना घर कर गयी। निम्न कोटि के मुसलमान उच्च कोटि के मुसलमान बनने की प्रबल आकांक्षा रखने लगे। मिथिला मे बसने वाले मुसलमानो मे सेयद, शेख, पठान, अंसारी (जुलाहा) कुजरा (सब्जीफरोश), लहेरी (चूड़ी फरोश) मंसूरी (धुनिया) दर्जी, रंगरेज, नट, फकीर, इब्राहिमी (नोआ) तथा कुरैशी प्रमुख हे।[2]

मेदानी क्षेत्र होने तथा नदियों के जल से अभिसिचिंत होते रहने के कारण मिथिला की भूमि बड़ी उर्बरा है। यहाँ की जमीन साल भर विभिन्न तरह की फसलें पेंदा की जाती हे। यहाँ की कुल फसलो को तीन भागो मे विभक्त कर सकते है– अगहनी, रब्बी और भदई।[3] अगहन पूस में तैयार होने वाली फसल को अगहनी कहते हे। धान इसमें प्रधान हे। चेत–बैशाख में तैयार होने वाली फसलो को रबी कहते हें। गेहूँ, चना, खेसारी, राहट (अरहर) जौ, तीसी, कुरथी, केराव (मटर), सरसों तथा राई रबी की प्रमुख फसलें हैं। सावन–भादों में तैयार होने वाली फसलो को भदई कहते हे। आँसू, ठेलई, मरूआ, मकई, काउन, साया आदि प्रमुख भदई की उपज है। इनके अतिरिक्त गम्हरी, मूग, मसूर, कोदो, चीन, जनेर, गन्ना, शकरकन्द, तम्बाकू आदि

---

1 ताराकान्त मिश्र: मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन, पृ0–56

2 ताराकान्त मिश्र· मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन, पृ0–59–60

3 सर जान हाल्टन. बिहार दि हर्ट आफ इण्डिया, पृ0–105

फसलें भी समय–समय पर पैदा की जाती हे। इस प्रकार मिथिलावासी यद्यपि अनेक प्रकार के अनाज पैदा करते है किन्तु चावल यहाँ का सर्वप्रमुख भोजन है।

चावल दो प्रकार के है– उसना और अरवा। उबालेक हुए धान से जो चावल निकाला जाता हे उसे उसना तथा बिना उबाले धान से जो चावल निकाला जाता है उसे अरवा चावल कहते हैं। धनी लोग प्राय अरवा चावल खाते है। गरीबों के यहाँ भी किसी भोज–काज में प्राय अरवा चावल का प्रयोग किया जाता है। आगत अतिथि को तो अरवा चावल देना आवश्यक माना जाता है। भात बनाते समय जो पानी पसार कर फेक दिया जाता है उसे मॉड़ तथा गीले भात को मँडसटका भात कहते है।[1] भात, दाल, घृत, तरकारी, चटनी अचार, दूध, दही आदि भोजन के आवश्यक अंग है। धनी लोग तो धान के चावल का भात खाते हे परन्तु निर्धन लाग आँसू, ठेलई, गम्हरी, काउन, **स**मय चीन, कोदो तथा मकई से बने भात से भी अपना जीवन निर्वाह करते है।

दाल में राहर की दाल सर्वोत्तम मानी जाती हे किन्तु मूँग, चना, मसूर, खेसारी, उरद, कुरथी, केराव और रहरिया की दाले भी देनंदिन जीवन में व्यवहृत होती है। मिथिला में छप्पन प्रकार की तरकारी (सब्जी) की बात प्राय चला करती है। तरूआ, भुजुआ ओर रसदार तीन तरह से तरकारियाँ तैयार की जाती है।[2] यहाँ की प्रमुख तरकारियों में बडर–बरो, तिलकोट, अरिकोंच, ओल खम्हारू, परोर (परवल), करेला, अदोरी– भाँटा, झिमनी, राम झिमनी, कदीमा (कोहड़ा), सजमनि (कदुआ) कुम्हरोरी, आलू–कोवी, केरा (केला), मुनिगा तथा साग है।[3] साग में पटुआ साग अत्यन्त प्रसिद्व है किन्तु इसके अतिरिक्त गेन्हारी, बथुआ, बदाम, पलांकी, करमी, खेसारी, केराव, ठढिया, लाफ, सरसो तथा नोनी साग भी लोग खाते है। मत्स्य–माँस भी यहाँ का प्रमुख खाद्य पदार्थ है। मिथिला में चटनी को साना, चोखा तथा भरता भी कहते है। आलू, ओल, परवल तथा बैगन के साना के अतिरिक्त आम, धनियाँ पुदीना, आँवला तथा टमाटर की चटनी अत्यन्त लोकप्रिय है। मिथिलावासी अचार के बड़े प्रेमी होते है। आम्र, कटहल, नीबू, करेल, मिर्च, करओना तथा साग के अचार उल्लेखनीय है। इनके अलावा लोग समय–समय पर आलू आँवला, तील, अदरक तथा परवल का अचार भी बनाया करते हैं।

---

1 जी0ए0गिर्यसन बिहार पीजेन्ट लाइफ पृ0–245

2 डा0उमेश मिश्र मैथिल संस्कृति ओ सभ्यता

3 डा0 ताराकान्त मिश्र मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन, पृ0–67

मिथिला में चरागाहों की कमी नही। अत यहाँ मवेशियों की संख्या अपरिमित है। गाय, भैस तथा बैल प्राय आज भी प्रत्येक कृषक के दरवाजे पर दृष्टिगत होते है। यही कारण है कि यहाँ दूध–दही पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता है। दूध मे बुनियाँ और चीनी डालकर एक विशेष प्रकार का पेय बनाया जाता है जिसे "सकरौरी" कहते है। भोजनोपरान्त पान–सुपारी का वितरण आवश्यक समझा जाता है। मिथिला में बगीचे और अमराइयों की संख्या अतिशय है अत यहाँ भाँति–भाँति के फुल उपलब्ध होते है। प्रमुख फलो में आम, कटहल, अमरूद, लीची, बरहर, केला, जामुन, शरीफा, नीबू, बर, हरफा, बेल, दाड़िम, अनार, खीरा, सपाटो, तरबूज और फूट आदि उल्लेखनीय है।

मिथिलावासी मिष्ठान्न के भी बड़े प्रेमी होते है। मिठाइयो मे खाजा, मुगवा, जिलेबी, छेना रसगुल्ला, गुलाब जामुन, अमिरिती, धेवर, पेड़ा, बुनिया, लड्डू तथा बताशा प्रधान है। इस क्षेत्र के अन्य खाद्य पदार्थो में पूरी, पूआ, अमावट, ठकुआ, भसुबा, दलिपिट्ठी, ओरहा बगिया, दलिपूरी, लाई, सतुआ तथा रोटी प्रमुख है। तरकारी के रस को झोर कहते है। यहाँ प्रात.काल के जलपान को बसिया, पनपियाई तथा जलखे, दिन के भोंजन कों भोंजन खाद्यक / कलो तथा मझनी और शाम के जलपान को बेरहटिया तथा सँझोआ कहते है। पेय पदार्थो मे पानी, दूध, शरबत तथा भाँग प्रसिद्ध है। निम्न जाति के लोग ताड़ी, दारू, हुक्का, बीड़ी और सिगरेट पीते है। तम्बाकू का प्रचलन प्राय सभी जातियों के बीच हो गया है।

मिथिला के लोग चमक–दमक तथा भड़कीलेपन से सदा दूर रहते है। सादा जीवन और अध्यात्म–चिन्तन यहाँ के निवासियों का मूल मत्र है। यही हेतु है कि यहाँ के धनी लोग भी अत्यन्त साधारण परिधानो में दृष्टिगत होते है। साधारण तथा कम वसत्र रखने का दूसरा कारण यहाँ की भौगोलिक स्थिति भी है। यहाँ के पुरूष साधारणत· एक धोती और एक अंगपोछे (तौलिया) से ही काम चलाते है। धोती भी पैर तक नहीं, ठेहुने तक ही रहा करती है। तिरहुतवासी का लक्षण का कहावत में बतलाया गया है[1]–

ठेहुआ धोती, मुठिया ठीक।
तखन बुझब तिरहुतिया थीक।।

---

1 उद्धृतकर्त्ता ताराकान्त मिश्र मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन, पृ0–63

यहाँ के ब्राह्मणो की प्राचीन पोशाक मे धोती, मिरजई अथवा चपकन, डोपटा, गमछा और पाग प्रमुख है। छाता, छड़ी, पनही (जूता) और खड़ाम भी उनके लिए आवश्यक माने जाते है। अन्य जातियो मे धोती, तीनी (चादर) और गमछा तथा मिरजई का प्रचलन है। मिथिला में लाल और पीली धोती बहुत लोकप्रिय है जिसका व्यवहार शुभ अवसरों पर होता है। मुसलमानो के बीच चारखाना लुंगी का प्रचलन है। अब कुछ मुसलमान धोती भी पहनने लगे है। छोटे बच्चे धोती कमर में लपेट कर पहनते है, उसे घरिया कहते है। छोटे-छोटे बच्चों को कछिया और जंघिया भी पहनाएं जाते है। मिथिला में बूढ़े लोग प्राय. आज भी कमर मे कपड़े की बनी एक छोटी सी झोली लटकाए रहते हैं जिसमे वे सुपारी (करौली), सरौता, तम्बाकू, नस आदि रखते है। इस झोली को बटुआ, बनुली अथवा धोकरी कहते हैं।

बिछौने में मिथिलावासी कंबल, शतरंजी, तोशक, उलेंच, गलीचा तथा चादर का प्रयोग करते है। तकिये को यहाँ गेरूआ कहते है। भूमि पर बिछाये जाने वाले बिछौने में पटिया, शीतलपाटी, तराए, वरहत्था, गोर्नार, सेज, तथा सलीना प्रमुख है। काठ की बनी चौकी, खाट, पलंगरी, सन्दूक तथा सफरी का व्यवहार भी बिछोने के रूप में होता है। ओढ़ने के कपड़ों में चादर, कंबल और सीरक प्रमुख है। सीरक को रजाई, दोलाई, सलगा तथा तुराई भी कहते है। निर्धनों के बीच फटे पुराने कपडों की बनी सुजनी तथा केथरी से ही रजाई का काम लिया जाता है।

स्त्रियों के पहनने के कपड़े को साड़ी कहते है। सधवा स्त्रियाँ तो अच्छी, महीन, रंगीन तथा चमकदार और कोटदार साड़ी का प्रयोग करती है लेकिन विधवा साधारणत मोटी ओर कोर विहीन साडी का। साड़ी के अगले लटकने वाले अंश को "आँचर" कहते है और कोचा वाले भाग को "गोइनाट । कमर में बाँधकर बनाई गयी झोली मे 'जोइछ' अथवा 'फॉफर' कहते है। साड़ी के तले पहने जाने वाले कपड़े को साया अथवा घघरा कहते है। छोटी बच्ची अब साधारणत घघरी का व्यवहार करती है। औरतों की चोली को अंगा, कसनी, कुर्ती, झुल्ला तथा निमस्तीन कहते है। औरतों के शरीर ढंकने वाले कपड़े को ओढ़नी चुनरी अथवा चछरि कहते हे।

आज के पाश्चात्य प्रभाव ने मिथिलावासी युवक-युवतियों पर अपना रंग अवश्य जमाया हे परन्तु पाश्चात्य परिधानों में आवेष्टित उन युवक-युवतियों के भीतर से मिथिला की संस्कृति झांकती रहती है जो उपयुक्त अवसर पाक अपना व्यापक, आकर्षक तथा प्रभावशाली रूप धारण कर प्रकट हो जाते हैं।

श्रीवृद्धि करने वाले वाले प्रसाधन को अलकार कहते है। इसके प्रयोग से व्यक्तित्व में एक आकर्षण आ जाता है। यही कारण है कि आदिकाल से ही किसी न किसी रूप मे शरीर को आभूषित करने की सुदीर्घ परम्परा चली आ रही है। मिथिला के नारियो के बीच अनेक प्रकार के आभूषणो का प्रचलन है। सिर से पैर तक के विभिन्न अगो के लिए अलग-अलग आभूषण पर्याप्त सख्या मे उपलब्ध है। यद्यपि पहले के अधिकाश गहने चाँदी के बने होते थे परन्तु अब उनकी जगह अधिकांशत. सुवर्ण ने ले ली है।

मंगटीका और टिकुली सिर तथा भाल संबधी आभूषण है। मगटीका का एक आभनव रूप टीका भी प्रयुक्त होने लगा है। नाक के गहनो मे ठोप, छक, नथुनी, नकबेसरि बलुकी और नथिया प्रमुख है। नथिया को नकमुन्नी भी कहते है। कान के गहने बोर, झूमक, ढेला, अन्ती, कनेली, तरकी, कर्णफूल, कर्णपाशा, माकरी तथा बाली उल्लेखनीय है। माकरी, बाली और इयरिंग अपेक्षाकृत आधुनिक आभूषण है और स्वर्ण के बने होते है। ग्रीवा के आभूषणों मे टीप, सूति (इसे हँसुली भी कहते है), सिकड़ी, हेकल, तख, करसरि, मटरमाला, चन्द्रहार, रुपेयाछड़ तथा अशर्फी अधिक प्रख्यात है। बाँह के गहनों मे पचखण्डी, बक, कफोखा, कटबी, बिरखी, बिजोठ, बाजूबन्द, पटही, अनन्त, पाति और कुसियारक गेंडी प्रसिद्व है। बांह के आधुनिक गहनों मे स्वर्ण निर्मित लपेट सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कंगना, बरहरी, अगेली, बिचेली, पछेली, लसनी, हथसकर, पहुँची, अमिरती, मटरबाला तथा सकरा कलाई के गहने है। कमर के आभूषणों में डँडकस (करधनी) तथा कोचवन प्रमुख है। पाजेब, काड़ा, छाटा, साट, पायल और पेर संकर पैर के गहने है। पैर की अंगुली में पहने जाने वाले गहनो में अगूठी और बिछिया अतिशय प्रसिद्व है।

मिथिला मे नारियों के अतिरिक्त जन्म, मुडन, उपनयन आदि सस्कारों पर बच्चो को भी विभिन्न आभूषणो से मण्डित किया जाता है। अत. बच्चों के उपयोग के लिए भी विभिन्न प्रकार के गहने मिथिला क्षेत्र में प्राप्त होते है। कुंडल, लंगफूली, चिडिया और कनौसी बच्चों के कान के गहने है। कनौसी का व्यवहार तो बहुत से युवक और वृद्व भी करते है। बहुत से मिथिलावासी तो आमरण कनौसी पहने रहते है। उनका विश्वास है कि सुवर्ण के पानी पड़ने से शरीर विशुद्व और निर्मल होता रहता है। गर्दन के आभूषण कंठा, हनुमानी, अशर्फी, मूंगा की माला, रूद्राक्ष की माला आदि है। मट्ठा हाथ का प्रमुख गहना है उसे बलिया भी कहत है। बाँह के गहनो में ताबीज

मूँगा और रूद्राक्ष को परिगणित किया जा सकता है। जे कमर का प्रसिद्व गहना है इसे हरहरा भी कहते है। पैर के गहनों में काडा सर्वाधिक प्रसिद्व है।

इस प्रकार अपने खान–पान, वेश–भूषा और अलकरण आदि में भी मिथिला का एक विशिष्ट–पृथक रूप दृष्टिगत होता है।

आर्थिक आयाम

साधारण जनता की अर्थव्यवस्था सम्बन्धी विभिन्न स्थितियो, संगति–विसंगतियों, समस्याओं एवं समाधानों के बीच गतिशील चेतना आर्थिक लोक चेतना है। साधारण जनता के आर्थिक जीवन के अन्तर्गत रोजी-रोटी कमाने के विभिन्न साधन आते है जैसे कृषि, व्यापार, आखेट, मत्स्य पालन, पशुपालन उद्योग धधे एवं नौकरी आदि। इसके अतिरिक्त साहूकारी, कर्जा, अनर्गल व्याज लेना, शासन द्वारा अतिशय कर की वसूली करना जैसी आर्थिक कुरीतियाँ भी इसके अन्तर्गत सम्मिलित है। इनके अलावा महगाई, बेरोजगारी, फिजूलखर्ची एवं श्रम पर बल तथा आलस्य का विरोध जैसी आर्थिक समस्याए, विचार आदि साधारण जनता के आर्थिक जीवन से सम्बद्व है।

आज के आधुनिक जीवन में परिव्याप्त जटिलताए अर्थमूलक है। व्यक्ति चारों ओर के आर्थिक दबावों, अनुभवों एवं विविध संगति–विसगतियो के बीच से यातनापूर्ण संक्रमणकाल के विविध सन्दर्भो से गुजर कर राष्ट्रीय विकास की ओर गतिशील है। संतुलित अर्थ–व्यवस्था राष्ट्रीय–जीवन का प्रमुख आधार होती है। जीवन के बहुमुखी क्रिया–व्यापारो का स्वरूप इसके समुचित क्रियान्वयन से होता है। किसी भी अर्थ–व्यवस्था की विकासशील स्थितियाँ ही वहाँ के लोक–जीवन में चेतना उजागर करने का प्रबल माध्यम हुआ करती है। औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के सदृश मिथिलांचल की साधारण जनता भी अनेक नये कार्यो को करने लगी है।

मिथिला कृषि प्रधान क्षेत्र है अत: यहाँ के अधिकाश निवासी प्रमुखत कृषि पर निर्भर करते है किन्तु इसके अलावा अतिरिक्त समय मे वे छोटे–छोटे कुटीर उद्योग से भी द्रव्योपार्जन करते है। ऐसी प्रतीत होता है कि विभिन्न उद्योग–धंधों के आधार पर ही यहाँ जातियो का विभाजन किया गया। आज भी वे जातियाँ अपने परम्परागत

तथा जातीय पेशे में संलग्न दीख पड़ती है। हाँ, सुविधा तथा साधन के अभाव में वे अपने जातीय धधों का परित्याग अवश्य करती जा रही है। मिथिला में कुछ ऐसी जातियाँ भी देखने मे आती है जो मूलत· जाति नही है किन्तु अब नवजाति का रूप ले रही है। प्रमुख उद्योग धन्धे के आधार पर इनकी सृष्टि हो जाती है। विभिन्न वर्गो के लोग इसमे सम्मिलित हो जाते है। "सन्यासी" ऐसी ही जाति है। घर–परिवार का परित्याग कर किसी शिवालय में भगवान शिव की पूजा करने तथा भिक्षाटन कर जीवन व्यतीत करने वालो को सन्यासी के नाम से अभिहित किया जाता है, परन्तु अब इनकी एक जाति बन गयी है। पमरियां इसी प्रकार की एक दूसरी जाति है। किसी घर में बच्चे के जन्म लेने पर नाच–गाकर माता–पिता से दान–दहेज लेने वाले को 'पमरिया" कहते है। फलों का व्यापार करने साले को "खट्टी" तथा बन्दर–भालू को नचाकर जीविकोपार्जन करने वाले को "मदारी" कहते है। मिथिला की साधारण जनता परम्परागत औजारो के साथ–साथ आधुनिक और वैज्ञानिक औजारों का प्रयोग आर्थिक क्रियाकलाप हेतु कर रही है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतवर्ष के सदृश मिथिलांचल की साधारण जनता के आर्थिक जीवन मे भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयाम .

साधारण जनता की धार्मिक एवं सास्कृतिक मान्यताओं, विभिन्न उत्सवों, त्योहारों, धर्म के परिवर्तित–अपरिवर्तित आयामों की गतिशील मानसिकता धार्मिक सांस्कृतिक लोक–चेतना है। धर्म एक शक्ति भी है और विश्वास भी। इसकी धारणा अमूर्त एवं अति प्राचीन है। इसके स्वरूप चिन्तन मे कल्पना का सहयोग अनिवार्य है। हमारा अतीत काल धार्मिक दृष्टि से गोरवमय रहा है और उसके नियम शाश्वत नियमों की भाँति समाज मे मान्य रहे है। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जीवन के विविध सोपानों में धार्मिक मान्यताओ को एक आवश्यकता के रूप में मानता आया है। धर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए डा0 राधाकृष्णन कहते है कि "धर्म वह अनुशासन है जो अन्तरात्मा को स्पर्श करता है और हमे बुराई ओर कत्सितता से संघर्ष करने मे सहायता देता है। काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है, नैतिक बल को उन्मुक्त करता है।"[1] ज्यों–ज्यों ओर जब–जब सामाजिक संगठन में परिवर्तन होता है तब तब धार्मिक एवं नैतिक मान्यताए परिवर्तित होती है। युगीन प्रभावों के परिणामस्वरूप ईश्वरीय आस्थाओं का केन्द्र देवी–देवताओ के साथ–साथ मानव भी हुआ है।

---

1 डा0 राधाकृष्णन – धर्म और समाज, पृ0–45

भारतीय संस्कृति का मूल एवं उसका सच्चा स्वरूप हमें साधारण जनता के जीवन में ही प्राप्त होता है। मनुष्य के रूप में एक सामाजिक सदस्य के नाते जो वह करता है, सोचता है वह सब जटिल सांस्कृतिक चक्र से बँधा हे। संस्कृति ही वह आधार हे जिसके माध्यम से व्यकित ज्ञान, कला, नेतिकता, प्रथाएं एव परम्पराएं सीखता है। आज के युगीन प्रभावो के परिणामस्वरूप गाँव के लोगो के आचार–विचार, रहन–सहन, खान–पान, उत्सव त्यौहारों में सांस्थानिक परिवर्तन हुए हे जिन्होंने गाँव में सांस्कृतिक नवीनता का स्वरूप दिया हे। लोक चेतना के धार्मिक और सास्कृतिक आयाम का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा, सत्यनारायण, सतोषी माता आदि की कथाए, नवरात्रि, गणेश चतुर्दशी, रामायण पाठ, हरिभजन एवं शास्त्रार्थ आदि धार्मिक विधि–विधान आते है। पशु बलि एव नरबलि जैसी कुप्रथाएं भी जन सामान्य के धार्मिक जीवन का अग है। इसके अतिरिक्त ईश्वर, भाग्य, कर्म, पुनर्जन्म, पाप–पुण्य एव स्वर्ग–नरक आदि से सम्बन्धित विश्वास तथा उल्लू की पूजा, चीलो की मगोडे खिलाना आदि से सम्बन्धित अंध–विश्वास लोक धर्म के अन्तर्गत आते है। भूत–प्रेत, जादू–टोना, टोटके, वशीकरण, ताबीज, शकुन–अपशकुन आदि से सम्बन्धित विश्वास भी इसके अन्तर्गत आते है। इसके अतिरिक्त पर्व–त्योहार, मेला, संस्कार, लोकगीत, लोक नृत्य, लोक कथा, लोकोक्ति, कहावतें एव मुहावरे आदि भी धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयाम के अन्तर्गत आते है।

मिथिला के प्रमुख निवासी हिन्दू और मुसलमान हे। यद्यपि मुसलमानो मे भी विभिन्न फिरके है फिर भी वे इस्लाम मजहब के अनुयायी हे। हिन्दुओ में इस तरह की बात नहीं। उनके अनेक सम्प्रदाय, पंथ तथा मतवाद हे। उनके बीच विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा–उपासना का प्रचलन है। लेकिन एक विशिष्टता भी है। विभिन्न संप्रदायों मे दीक्षित होने के बावजूद हिन्दू एक अत्यन्त व्यापक धर्म में आस्था तथा निष्ठा रखते है। उसे सनातन धर्म कहते है। यह धर्म एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सभी एक सूत्र मे आबद्ध है। परिणामस्वरूप वाह्य विभिन्नताओ और अनेकताओं के बीच उनमें एक आन्तरिक एकता रहती है। मिथिलावासी अतिवादी नही अपितु समन्वयवादी और मध्यममार्गी होते है। यही कारण है कि वे एक ही समय शिव आदि शक्ति भगवती, भगवान राम, लीला पुरूषोत्तम, कृष्ण, संकटहरण हनुमान, सिद्धिदाता गणेश एवं सत्यनारायण भगवान के अनन्य भक्त होते है और श्रद्धावनत हो उनके सामने निजी कामना पूर्ति की याचना करते हैं। इस प्रकार मिथिला का लोक जीवन एक शाश्वत–सनातन धर्म में आस्था रखता है जो अपनी विशालता तथा ग्रहणशीलता

क कारण एक ऐसे महासागर के सदृश है जिसमे अनेक सम्प्रदायो के स्रोत आकर विलीन हो जाते है। वर्तमान मे मिथिला में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित है।

मिथिला में शिव की पूजा दो रूपों में की जाती है–शिवलिंग की पूजा और शिवमूर्ति की पूजा। किन्तु अधिकांश लोग लिग–पूजा ही करते है। पूजा के उपकरणों मे अन्य उपादानो के अतिरिक्त जल, बिल्ब पत्र, चन्दन, अक्षत तथा अकवन के फूल प्रधान है। मिथिला मे छोटे बच्चे को जब प्रथम बार पाठशाला मे प्रविष्ट कराया जाता है तब "ओम नम शिवाय सिद्वम" ही पहला पाठ होता है। घर–घर में शिवलिंग की पूजा तथा गाँव–गाँव मे शिव मन्दिर की स्थिति बतलाती है कि शिव मिथिला के बड़े ही लोक प्रिय देवता है। शिव संबधी महेशवाणी तथा नचारी लोग भाव-विह्वल होकर गाते हैं और अपने दु खाभिभूत मन को हल्का करने, शारीरिक थकान मिटाने एव भोलेनाथ को प्रसन्न करने की चेष्टा करते है। लोगो को विश्वास है कि शख–ध्वनि तथा हर हर बम बम के महोच्चार से दारिद्रय का विनाश एव संकट का अपहरण होता है। यही कारण है कि मिथिला मे प्रात काल शंखनाद और घंटा–ध्वनि के उद्घोष से सम्पूर्ण वातावरण आन्दोलित हो उठता है। ललाट पर भस्म तथा गले मे रूद्राक्ष की माला शैवो के प्रमुख लक्षण है।

शाक्त शक्ति की उपासना करते है। शक्ति का भगवती, दुर्गा, काली, गोसाउनि आदि नामो से भी संबोधित किया जाता है। प्रत्येक मैथिल के घर मे एक गोसाउनि होती है जिसकी नित्य पूजा होती है। भगवती सीता की जन्मभूमि में गोसाउनि की पूजा नैसर्गिक है। घर की गोसाउनि को कुलदेवी कहते हैं। घर मे किसी शुभ कार्य, अनुष्ठान अथवा संस्कार के शुभ अवसर पर सर्वप्रथम गोसाउनि की पूजा की जाती है। इस अवसर पर ललनाएं बड़ी तन्मयता के साथ गोसाउनि गीत गाती है। इस अंचल में शाक्त धर्म और कर्मकाण्ड में अपूर्व सांमजस्य दीख पड़ता है। मिथिलावासी आज भी भगवती को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ, हवन, पूजा–पाठ के अतिरिक्त छागर की बलि प्रदान किया करते है और प्रसाद के रूप मे माँस का भक्षण करते है। यही कारण है कि माँस–मत्स्य मिथिला के प्रिय खाद्य पदार्थो में से है। शारदीय नवरात्रिके अवसर पर लोग बडी धूमधाम से भगवती का पूजन करते है। वाममार्गी प्रयोगो के द्वारा जो भगवती को सिद्व करते है उन्हें तांत्रिक कहते है। लोगों की ऐसी धारणा है कि तान्त्रिको पर भगवती की विशेष कृपा रहती है। ये तांत्रिक लोग कभी–कभी अद्भुत चमत्कार प्रदर्शन करते है। कुछ तांत्रिकों ने तो इसे अब द्रव्योपार्जन का एक

साधन बना लिया है।[1] किन्तु मिथिला मे ऐसे तान्त्रिको की भी कमी नही जो इस गर्हित कार्य से सर्वदा दूर रहे। मिथिला मे शक्ति पूजा का प्रचलन है अत यहाँ शाक्त तंत्र की ही प्रधानता है।[2] तत्र बौद्ध धर्म की देन है, किन्तु हिन्दुओ ने भी इसे स्वीकार कर लिया। रक्त–परिधान, ललाट पर रक्त चंदन तथा सिन्दूर बिन्दु शाक्तो के लक्षण है।

भगवान विष्णु के उपासक को वैष्णव कहते है। मिथिला में वैष्णव उन्हे भी कहा जाता है जो मत्स्य–माँस के भोजन का परित्याग कर देते है। आजीवन मत्स्य–माँस नहीं खाने वाले व्यक्ति को "दूधां वैष्णव" कहते है। किन्तु इस प्रकार के व्यक्ति न तो किसी सम्प्रदाय में दीक्षित रहते है न जप, माला, छापा, तिलक आदि करते है और न विधिवत किसी विशेष इष्ट देवता का भजन–पूजन ही करते है। वैष्णव सम्प्रदाय मे दीक्षित व्यक्तियो के इष्ट देव भिन्न–भिन्न होते है। कुछ लोग भगवान राम को इष्ट मानते है तो कुछ लोग भगवती सीता को और कुछ लोग राम–सीता के युगल रूप को। इसी प्रकार कुछ लोगों के उपास्य देव बालकृष्ण है तो कुछ लोग राधा-कृष्ण को अपना इष्ट देव मानते है। ऐसे तो भगवान विष्णु के दस प्रमुख अवतार माने गये है किन्तु मिथिलावासियों को प्राय रामावतार ही सर्वाधिक ग्राह्य है। भगवान राम को इष्टदेव मानने वाले वैष्णवों के ललाट, बाँह तथा वस्त्र पर रामनाम की छाप लगी रहती है। वे गले मे तुलसी की माला पहनते है। शिव, शक्ति और विष्णु तीनों के ही उपासक मिथिला मे वर्तमान है किन्तु लोक जीवन पर शिव और भगवती का जितना व्यापक प्रभाव है उतना विष्णु का नहीं। शिव की नचारी और महेशवाणी तथा भगवती से सम्बद्व लोकगीतो की सख्या अनन्त है परन्तु विष्णु सम्बन्धी लोकगीत अल्पमात्रा में उपलब्ध होते है।[3]

कबीरदास द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय को कबीरपथी सम्प्रदाय कहते है। मिथिला मे कबीर पथियो की सख्या कम है। ग्वाला, कोइरी, धाबी, हजाम, जुलाहा आदि निम्न जातियो के लोग प्राय इस सम्प्रदाय में दीक्षित हुआ करते है। ये निर्गुण ब्रह्म के साथ–साथ कबीर का भी ईश्वरतुल्य गुणगान करते है। बात–बात पर वे कबीरदास के पदो को उद्धृत करते है कुछ ऐसे देवी–देवता है जो हर गाँव मे हर व्यक्ति के द्वारा

---

1 विलियम कुक्र नेटिव आफ नादर्न इण्डिया, पृ0–248–49
उद्धृतकर्ता. ताराकान्त मिश्र, मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन

2 डा0 तेज नारायण लाल मैथिली लोकगीतों का अध्ययन, पृ0–67

3 डा0 जयकान्त मिश्र. मैथिली साहित्य का इतिहास, पृ0–23

समान रूप से समादृत तथा पूज्य होते है। उनमें ग्राम देवता सर्वाधिक प्रधान है। ग्राम देवता के अलावा लोग सिद्विदाता गणेश, सकटमोचन हनुमान, सरस्वती तथा लक्ष्मी की पूजा भी समय–समय पर बड़े समारोह पूर्वक करते है। मिथिला में नदियो तथा अनेक वृक्षो की पूजा का भी प्रचलन है। गगा ओर कमला मे स्नान कर लोग आज भी अपने को पवित्र बनाते है। तुलसी का पोधा प्रत्येक मैथिल के आँगन मे लगा रहता है। ललनाएं नित्य उसकी पूजा करती है। तुलसी के अलावा समय--समय पर बट, पीपल तथा बेल की भी पूजा की जाती है।[1] हिन्दुओं के उपरिलिखित देवी–देवताओं के साथ–साथ डोम–दुसाध आदि वर्णो के लोग राजा सल्हेस्र की विशाल मूर्ति बनाकर उनकी पूजा किया करते है।[2] इस प्रकार मिथिला के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय, देवी–देवता, पूजा–आराधना, ज्ञान–भक्ति तथा जप–तप यहाँ के लोक जीवन ओर सस्कृति को निरन्तर सप्राण तथा समुन्नत बनाए रहते है।

सम्पूर्ण भारतवर्ष के सदृश मिथिलाचल की साधारण जनता मे भी जादू–टोना, यन्त्र मत्र तथा अन्धविश्वास आदि प्रचलित है। टोने–टोटके को मिथिला में जादू, गुन, ओज–टेम, टोना–टपार आदि नामो से भी पुकारा जाता है। मिथिला में ऐसा लोक–विश्वास है कि अगर किसी गर्भिणी अथवा सद्य प्रसूता स्त्री की मृत्यु हो जाती है तो वह घर के अन्य सदस्यो अथवा नवजात शिशुओं को कष्ट पहुँचाने के लिए प्रेत रूप में बार–बार घर मे आती है और विभिन्न प्रकार के उपद्रव किया करती है। अत उससे बचने के लिए एक विशेष प्रकार का टोना किया जाता है। घर से श्मशान तक के रास्ते में उल्टा सरसो फेक दिया जाता है। जब तक वह सभी सरसो को चुन नही लेगी, तब तक वह घर मे आ ही नहीं सकती। घर आना उसके सामर्थ्य से बाहर की बात हो जाती है।[3] अगर किसी को भूत या प्रेत लग जाय तो वट–वृक्ष के नये पत्ते (टूसे) को उसके कान में रख देने से भूत भाग जाता है। आग में मिर्च डालकर उसे सुघाने से भी भूत पलायन कर सकता है। कभी– कभी कोई डाइन (जादूगरनी) किसी नये बर्तन में योग–टोन करके उसे चौराहे पर रख देती है जो कोई उसका स्पर्श कर लेता है उसका या तो बड़ा अनिष्ट हो जाता है या उसका प्राणान्त हो जाता है।[4] इस प्रकार के अनेक जादू–टोने का प्रचलन मिथिलाचल में अब भी वर्तमान है। कभी–कभी तो आवश्यकतावश गाँव मे डाइन, योगिन, ओझा, गुणी, भगता अथवा धामि की बडी खुशामद करनी पडती है।

---

1 विलियम क्रुक नेटिव आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ0–230

1 उद्धृतकर्ता, ताराकान्त मिश्र, मेथिली लोक साहित्य का अध्ययन।

2 जी0ए0गियसन बिहार पीजेन्ट लाइफ पृ0–409

3 ताराकान्त मिश्र मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन, पृ0–81

4 जी0ए0गियर्सन बिहार पीजेट लाइफ पृ0–409

टोने-टोटकों का प्रयोग अनेक रोगों के इलाज के लिए भी किया जाता है। अगर किसी व्यक्ति की डॉंड (कमर) में दर्द होने लग जाय तो उसे "चोर पकडना" कहते है। ऐसे व्यक्ति की कमर एक ऐसे लड़के से स्पर्श करायी जाती है जो जन्मकाल में उल्टा रहता है। अर्थात् माता के गर्भ से पहले जिसके दोनो पेर निकलते है और बाद मे सिर। ऐसा लोक विश्वास है कि ऐसे लड़के के स्पर्श मात्र से कमर दर्द शीघ्र दूर हो जायेगा। अगर कोई छोटा बच्चा शयनकाल मे बिछौने पर ही पेशाब कर देता है तो माता हर सायकाल उसके सिर पर दीपक जलाकर रख देती है। इस टोने से पेशाब कर देने की उसकी यह अवांछित आदत छूट जाती है। अगर किसी की आँख मे फूला पड़ जाय तो किसी चिकित्सक को दिखलाने के बदले उसे किसी गुणी को दिखलाया जाता है। कुछ दिनो तक मत्र पढ़कर झाड़ देने से आँखे साफ और निर्विकार बन जाती है।

मिथिला के लोक जीवन मे कुछ ऐसे आचरण अथवा व्यापार है, यात्रा के समय जिनका सम्पादन नितान्त निषिद्व वर्जित तथा अशुभ माना जाता है। यात्रा पर प्रस्थान करते समय किसी का छीकना, तेली का दर्शन होना, मछली खाकर चलना, रिक्त कलश का देखना, गीदड के द्वारा रास्ता काट दिया जाना आदि अशुभ माने जाते है परन्तु इसके विपरीत दही खाकर चलना, मछली देखकर चलना, सवत्सा गाय तथा भरे कलश को देखकर चलना शुभ तथा फलदायक समझे जाते है। सियार का बोलना, कुत्ते का भौकना, पुरूष के बाये तथा स्त्री के दायें अग का फड़कना आदि भी कार्य में होने वाली विफलता के द्योतक माने जाते है। यही कारण हे कि अशुभ परिणामों से बचने के लिए मिथिलावासी आज भी ज्योतिषी से लग्न, मुहूर्त, गुनाकर कहीं यात्रा करते है। किसी बाधा के कारण, अगर कोई निश्चित मुहूर्त में नहीं जा पाता है तो वह "यात्रा करके" रह जाता है। गोसाउनि घर अथवा शयनगृह से कोई कपड़ा या अन्य आवश्यक पदार्थ हटाकर दरवाजे पर रख दिया जाता है ताकि फिर लोटकर उसे आँगन न ले जाया जाय और तदुपरान्त वह किसी भी समय सुविधानुसार यात्रा पर प्रस्थान कर सकता है। इस प्रकार के टोने से न तो मार्ग में कोई कठिनाई उपस्थित होती है और न कार्य-सिद्धि में कोई बाधा।

पावस में मिट्टी तले आम-पत्थर गाड देने का प्रचलन मिथिलाचल में बड़ा लोकप्रिय है। जब पावस की झड़ी लगी रहती है, दिन-रात मूसलाधार वर्षा के कारण गाँव मे मार्ग कीचड़मय हो जाते है और ग्रामवासी पानी और कीचड से ऊब जाते है तो इस प्रकार का टोना किया जाता है। लोगो का विश्वास है कि कोई ऐसा बच्चा जिसका जन्म अपनी ननिहाल में हुआ हो, अगर आग और पत्थर मिट्टी के तले गाड़ दे तो बदली अवश्य फट जायेगी, वर्षा रूक जायेगी और आकाश साफ हो जायेगा।[1] नवजात शिशु पर

---

1 ताराकांत मिश्र मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन, पृ0-83

किसी डाइन–योगिन की दृष्टि न लग जाय, उसकी सुरक्षा को ध्यान मे रखकर माताएं अपने बच्चे की आँखों में और भाल पर काजल लगा देती है। अनिष्ट से बचाने के लिए कभी–कभी तो माताए अपने बच्चे के हाथ पैर तथा ग्रीवा मे काले धागे बाँध दिया करती है। कभी–कभी नवजात शिशु अतिशय क्रन्दन और कोलाहल करने लगता है। माता के अनेक प्रयास के बावजूद जब वह शान्त नही होता है तो ऐसा माना जाता है कि किसी ने टोटका कर दिया है। ऐसी स्थिति में माता भी एक टोना करती है। बाँए हाथ में राई अथवा मिर्च लेकर वह तीन बार बच्चे के चारों तरफ घुमाती हे जिसे "निहुछना" कहते है और तब उस राई अथवा मिर्च को आग मे डाल देती है। बच्चा तुरन्त शान्त होकर प्रसन्न हो जाता है और किलकारी मार कर खेलने लग जाता है। योग टोन, तत्र–मंत्र के अतिरिक्त मिथिलावासी कुछ ऐसे अतिमानवीय तत्वो में भी विश्वास करते हैं, जिनसे अनिष्ट हो जाने की संभावना सतत् बनी रहती है। इन तत्वो में भूत, अगिया बेताल, प्रेत, किच्चिन, चुडैल, ब्रह्मकिचसि, मनुसदेवा, पनडुब्बी, देवी तथा राकस प्रमुख है।[1] छोटे –छोटे बच्चो को तो उनके नाम श्रवण से ही भय होने लगता है। क्रुक महोदय ने पुरूष भूतों में बह्म को सर्वाधिक अनिष्कारक बतलाया है।[2]

सम्पूर्ण भारतवर्ष के सदृश मिथिलाचल मे भी साल भर कोई न कोई पर्व–त्योहार आता ही रहता है। मिथिला में पर्व–त्योहार को"पावनि–तिहार" कहते है। आबाल–वृद्ध, बनिता, पुरूष, नारी, कृषक–मजदूर, धनी–निर्धन एवं द्विज और अद्विज सभी के लिए ये पर्व–त्योहार हर्ष और उल्लास के अक्षय स्रोत है। ऐसे मधुमय अवसरों पर वे आनन्द से झूम उठते है। व्रत अधिकांशतः [illegible] द्वारा रखा जाता है। धार्मिक त्योहारो का सम्बन्ध किसी न किसी देवी–देवता से होता है। विधि–विधान के साथ पूजा–अर्चना तो करनी ही पड़ती है समय–समय पर व्रत का भी पालन करना पड़ता है। इन पर्वो को मनाने मे लौकिक सुख की प्राप्ति गोण, आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि प्रधान होती है। ऐसे त्योहारों में नागपचमी, अननत चतुदशी, अक्षयनवमी, देवोत्थान–एकादशी, बकपचक, माघी सप्तमी, शिवरात्रि, जेठ दशहरा, निर्जला एकादशी, हरिशयनी एकादशी आदि प्रमुख है। कुछ त्योहारो का प्रमुख उद्देश्य लोकिक सुख की प्राप्ति होती है। इन त्योहारो के अवसरों पर सुभोजन का विन्यास तो रहता ही हे साथ ही साथ मेले का आयोजन एव मनोरंजन का सुप्रबन्ध भी। इस प्रकार के त्योहारों मे झूलन, कृष्णाष्टमी, चोठचन्द, दशहरा, दीयाबाती, गोधन, पखेब (मवेशियो का त्योहार), कार्तिक पूर्णिमा, नवान्न, विवाह पंचमी, सतुआइन, जूरशीतल और जानकी नवमी उल्लेखनीय है। कुछ ऐसे त्योहार है जिनका केन्द्र बिन्दु दाम्पत्य–जीवन का सुख है। ऐसे त्योहारो मे मधुश्रावणी, सोमवारी, कोजाग्रा, तुसारी, वरसाइत (वट सावित्री) आदि

---

1 जी0ए0 गियर्सन बिहार पीजेन्ट लाइफ पृ0–410–11

2 विलयम क्रुक नेटिव आफ नादर्न इण्डिया, पृ0–241
उद्धृत कर्ता डा0 ताराकान्त मिश्र मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन

यहाँ अपरिमित सख्या में परिव्याप्त है। बात–बात मे प्रयुक्त होने वाली लोकोक्तियाँ, बुद्धि परीक्षण करने वाली प्रहलिका तथा हास्यरस की झडी लगाने वाले फकड़े यहाँ के निवासियो के देनदिन जीवन के अभिन्न अग है ओर रामलीला, श्यामा चकेवा, जट–जटिन प्रभृति लोक नाट्य लोगो की आनन्दानुभूति के प्रमुख स धन है। इस प्रकार मिथिलाचल की धार्मिक एव सास्कृतिक समृद्वता यहाँ के धार्मिक विश्वास, जादू–टोना, मत्र–तत्र, पर्व–त्योहार, मेले, लोक साहित्य आदि मे स्पष्ट दिखाई देती है।

****

<u>तृतीय अध्याय</u>

साहित्य एवं लोक चेतना

1 साहित्य मे लोक चेतना का विस्तार

2 साहित्य में लोक चेतना का स्थान

  1 उपन्यास एवं लोक चेतना

  2 आँचलिक उपन्यास एव लोक चेतना

*****

तृतीय अध्याय

साहित्य एवं लोक चेतना

साहित्य समाज का दर्पण होता है जिसमें समाज का प्रतिबिम्ब समग्रता से देखा जा सकता है। समाज में रहने वाले प्राणियों की जीवन्त छवि साहित्य में झलकती है, प्रतीत होती है। लोक चेतना की अभिव्यक्ति का क्षेत्र लोक जीवन होता है। अतएव साहित्य और लोक चेतना में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। अत इनमें से किसी एक के समुचित अनुसधान के लिए दूसरे का परिज्ञान, अत्यन्त सहायक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

साहित्य में लोक चेतना का विस्तार

साहित्य एक व्यापक तत्व है ओरउसमें लोक चेतना का विस्तार भी कम नही है। यदि साहित्य को मानव मन की सूक्ष्मतम अनुभूतियो का इन्द्रधनुषी प्रतिबिम्ब कहे तो उसमे व्याप्त लोक चेतना को उसकी सूक्ष्मतम्, अन्तरंग सतरगिणी आभा का मूल कहा जाना चाहिए। साहित्य मे लोक चेतना की यह व्याप्ति इतनी अन्तरंगिणी और सूक्ष्म हे कि उसमें सतत् विद्यमान रहने पर भी वह प्राय अप्रतीत बनी रहती है।

साहित्यिक विधाएं जिस अनिर्वचनीय स्रोत से महत अनुभूतियों को अवतीर्ण कर रूप मे ढाल कर स्वसंवेद्य तथा पर– संवेद्य बना देती है ओर जिस सृजन प्रेरणा से पल–पल व्यक्तित्व को विकसित करते हुए उन अनुभूतियो को महार्घतत्वता प्रदान करती हे वह सदा अभिनंदनीय रहा है ओर रहेगा। वस्तुत साहित्य अपने आविर्भाव के आदिकाल में लोक चेतना के अत्यन्त सान्निध्य में रहा था। मानव जीवन के विभिन्न व्यापारो की भाँति, साहित्य में भी सहज अभिव्यंजना को चेतन प्रयत्न द्वारा, विकास में प्राप्त सौष्ठव, सोन्दर्य तथा शिवत्व की दृष्टि से संस्कार करके उचचातिउच्च स्तर पर स्थापित करने के अनेकानेक प्रयत्न किये जाते रहे हे। यही नही उसे लोक चेतना से विरहित सिद्व करने के प्रयत्न भी किये गये। आलोचना की शब्दावली मे "ग्राम्य प्रयोग" जैसे शब्द उक्त प्रवृत्ति एवं पूर्व धारणा के प्रतीक एव स्मारक है किन्तु साहित्य एव लोक चेतना अविभाज्य तत्व है और साहित्य मे लोक चेतना का विस्तार भी एक शाश्वत एवं चिरस्थायी सत्य है।

संसार का महानतम साहित्य लोक चेतना की अभिव्यजना ही है और उसकी मौलिक कथावस्तु लोक संस्कृति (फोक लोर) ही रही है। उदाहरणार्थ कालिदास की कृतियो पर ही दृष्टिक्षेप करे। वैसे तो समस्त कालिदास साहित्य ही लोक तत्व से ओत-प्रोत है किन्तु फिर भी अक्षुण्ण लोकप्रियता की दृष्टि से "मेघदूत" ही भारतीय साहित्य में उनकी सबसे अधिक प्रतिनिधि रचना मानी जायेगी। इसका कारण यही है कि उसमे भारतीय लोक मानस छलछला उठता है। जब तक कि आषाढ़ का प्रथम मेघ जनपद बंधुओ के नयनों में, प्रीति-स्निग्ध पिपासा उपजाता रहेगा तब तक कालिदास साहित्य भी विश्व-साहित्य का मुकुटमणि माना जायेगा। वस्तुत लोकदृष्टि से देखने पर "मेघदूत" लोक गीतो एवं बारहमासों की प्रकृति से अत्यन्त सान्निध्य रखता है।[1]

साहित्य मे लोक चेतना की व्याप्ति उसकी सभी विविध विधाओं में पायी जाती है। जिस भाँति गीतिकाव्य लोकमानस से अपना रिश्ता--नाता बनाये रखता है उसी भाँति नाट्य साहित्य भी प्रचलित लोक नाट्य विधाओं यथा रामलीला, रासलीला, लोक नृत्य, स्वांग, नौटकी, यात्राओ, झाकियो आदि के द्वारा रंग-मंच स लोक नाट्य का सान्निध्य बनाये रखता है। यही नहीं लोक नाट्य की अनिवार्य लोकप्रियता को दृष्टि मे रखते हुए नाट्य-तत्व के शास्त्रकारों को "भाण" और "डिम्ब" आदि लोक-नाट्य विधाओं को अपने शास्त्रीय विधान मे सम्मिलित करना पड़ा। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार ध्यान देने योग्य है-

"भारतीय शास्त्रों ने लोक प्रचलित साहित्य रूपों की कभी उपेक्षा नहीं की है। नवीन छन्द, नवीन गीत पद्वति, नवीन नाट्य-रूपक बराबर ही लोक चित्त से छनकर उपरले साहित्य-सतह पर पहुंचते रहे है।"[2]

साहित्य में लोक चेतना के विस्तार का समग्र आकलन एवं अनुसधान असंभव सा ही जान पड़ता है। इसकी एक बड़ी कठिनाई यह है कि साहित्य के इतिहास में, आविर्भाव काल से अद्यावधि कितनी ही बार साहित्य लोकवार्ता से प्रभावित हुआ है तथा उसके प्रतिदान के रूप में अनेक बार साहित्य ने लोकवार्ता को भी प्रभावित किया है। इसलिए शताब्दियो के इस सुदीर्घ अवान्तर मे साहित्य मर्मज्ञों के लिए इस भूल-भुलैया में से एक सुनिश्चित पथ बनाना कठिन हो जाता है। इस परस्पर प्रभाव के आदान

---

1 डा0 इदिरा जोशी भारतीय उपन्यासो मे लोकतत्व

2 हजारी प्रसाद द्विवेदी. विचार और वितर्क, पृ0-199

प्रदान को आचार्य द्विवेदी जी ने भी माना है। द्विवेदी जी का विचार है कि "भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग, लोक साहित्य पर आधारित था। कहना व्यर्थ है कि यहाँ के लोक-कथानकों का अध्ययन सहज नही है। न जाने कितनी बार वह साहित्य उपरले स्तर के ग्रन्थों से प्रभावित हुआ है और कितनी बार उसने उसे प्रभावित भी किया है।[1]

जहाँ तक साहित्य में लोक साहित्य की परम्परा का प्रश्न है उसका आदि विकास भी भारत मे ही हो पाया था। इस सम्बन्ध मे श्रीमती दुर्गा भागवत द्वारा व्यक्त विचार ध्यान देने योग्य है-

"लोक साहित्य की साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से भी उसका आदि विकास भारत मे ही पाया जाता है। दसवी शताब्दी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होकर बारहवी शताब्दी के अन्त तक का काल, भारत मे लोक साहित्य के संकलन एवं साहित्यिक विकास का स्वर्णयुग माना जायेगा। इसी काल मे गुणाढ्य की वृहतकथा का जीर्णोद्वार कथा सरित सागर के रूप मे काश्मीर के कविवर सोमदेव ने किया। दसवी शताब्दी के अन्त मे, ब्रह्मदेश मे इसकी प्रथम प्रतिलिपि अस्तित्व में आई और बौद्व भिक्षुओं द्वारा ब्रह्मदेश के उत्तरी भागो में जिन जातक कथाओ का प्रचार किया गया था उन्हे केवल प्रादेशिक स्वरूप का आवरण देकर पाँच-सात शताब्दियो तक इधर-उधर प्रचलित किया जाता रहा। उन्ही का सुसंस्कृत रूप, ब्राह्मी कथा-साहित्य का एक प्रमुख भाग बन गया। इस भाँति बौद्व जातक कथाओ का स्थायी रूप इसी संस्करण म ढल पाया।"[2]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा श्रीमती दुर्गा भागवत अपने देश की साहित्यिक प्रकृति के सम्बन्ध मे प्रमाणिक एव निश्चयात्मक धारणाए रखने मे समर्थ है किन्तु एक तटस्थ पर्यावलाचेक की दृष्टि से सुप्रसिद्व प्राच्यविद् श्री ए0ए0 मेक्डानेल का अभिमत ध्यान देने योग्य है- "महाकाव्यो तथा दृश्यकाव्यों में प्रयुक्त वृत्तात्मक सामग्री जो कि पुरातन दन्तकथाओ एवं पौराणिक आख्यानों अथवा दन्तकथाओ पर आधारित है हमे भारतीय साहित्य की सर्वाधिक मूल्यवान परिणति तक पहुँचा देती है- वह लोकवार्त्तातत्व है जो कि भारत मे कही अधिक काल पहले तथा कहीं अधिक परिव्याप्त रूप में, वास्तविक साहित्यकोटि तक अभ्युन्नत किया गया था- किसी भी अन्य प्राचीन जाति अथवा राष्ट्र की अपेक्षा।"[3] श्री मेक्डानेल को इस बात का श्रेय है कि उन्होने भारतीय साहित्य

---

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी· विचार और वितर्क, पृ0-201

2 उद्धृतकर्त्ता डा0 इन्दिरा जोशी- भारतीय उपन्यासो में लोकतत्व

3 ए0ए0मैक्डानेल इण्डिया पास्ट पृ0-405
उद्धृतकर्ता डा0 इन्दिरा जोशी भारतीय उपन्यासो मे लोकतत्व

की मूलभूत लोक–साहित्य–प्रवृत्ति को विदेशी होते हुए भी यथातथ्य रूप में पहचान लिया। साथ ही उन्होंने पाश्चात्य साहित्यिक जगत् के लिए भारतीय लोकवार्ता की साहित्य में परिव्याप्ति को भारतीय साहित्य की सबसे अधिक मूल्यवान सम्पत्ति भी माना है। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने न केवल भारतीय साहित्य मे लोक–चेतना की व्याप्ति एव महत्व को ही मान्यता प्रदान की है वरन् भारतीय साहित्य की इसी विशिष्टता को पाश्चात्य साहित्य को प्रभावित करने वाली सबसे अधिक व्यापक एव बलवती साहित्यिक विशिष्टता माना है।

लोकवार्तातत्व प्रत्येक राष्ट्र एव जाति क अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से विकसित होता रहा है किन्तु विश्वभर के सुसंस्कृत राष्ट्रो मे अपने देश क प्राचीनतम लोकवृत्तों को चिरन्तन अभिजात्य वाड मय का स्वरूप देने का श्रेय प्रो० विन्टरनिट्स ने भारत को ही दिया है। उनका अभिमत है कि "लिपिबद्व भारतीय लोक कथा–साहित्य, साहित्य के लोकतत्वात्मक अध्ययन की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण इसलिए है कि समस्त विश्व मे ऐसा सुसस्कृत राष्ट्र और एक भी नहीं है जिसने कि भारतीयो से पहले प्राचीनकाल से ही अपनी चमत्कारी कथाओ, कल्पना प्रधान कथाओ तथा पशु–पक्षियो की नीति–कथाओं को अभिजात्य चिनतन वाड मय का रूप देकर ग्रंथबद्व कर रखा हो।"[1] प्रो० विन्टरनिट्स ने यूरोपीय वृत्तात्मक साहित्य पर भारतीय लोकवार्ताओ के व्यापक प्रभाव को स्वीकार करते हुए एक अन्य स्थल पर कहा है कि "हमारे अपने साहित्य पर भारत के साहित्य के सीधे प्रभाव की अवहेलना नहीं की जा सकती। आगे चलकर हम देखेगे कि किस भाँति यूरोपीय वृत्तात्मक साहित्य भारत की पशु–पक्षी सम्बन्धी लोकवार्ताओ पर कुछ कम अंशो मे निर्भर नहीं रहा।"[2]

वेसे तो प्रत्येक देश के लोकवार्तातत्व की वहाँ के साहित्य मे न्यूनाधिक अंशो मे परिव्याप्ति पाई ही जाती है किन्तु भारतीय लोकवार्ता की अपनी निजी विशेषता यह है कि उसने न केवल अपने देश के साहित्य को परिव्याप्त कर रक्खा है वरन् उसके सूत्र विश्वभर के साहित्य में फेले हुए हें।

---

1 ,2 प्रो० विन्टरनिट्स हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर

उद्धृतकर्ता, डा० इन्दिरा जोशी भारतीय उपन्यासों मे लोकतत्व

मैक्डानेल द्वारा भारतीय लोक मानस मे पुनर्जीवन के गहरी आस्था वाली बात का उल्लेख भारतीय लोक चर्चा की एक निराली विशिष्टता की ओर ध्यान तो दिलाता ही है पर वास्तविक बात यह है कि भारत की विशेषता मात्र इस बात में है कि इसने मूल लोकमानस के तत्वों को अपनी कथाओं में, कहानियों मे, काव्य मे, दर्शन में धर्म में एक आस्था के साथ सुरक्षित रखा है। भारतीय मानस, सभ्यता के उच्चातिउच्च शिखर पर पहुँचकर भी अपने मूल से विच्छिन्न नही हुआ। इसीलिए भारतीय साहित्य के प्रत्येक उद्‌गार में शाश्वत मानव का लोकमानस सजीवित है।

साहित्य में जो कुछ सजीवता, मौलिकता एव चमत्कारिता है– लोकमानस को आलोड़ित एवं आन्दोलित करने की, उसके अन्तर्गत जो भी गहरी मर्मानुभूति है तथा पाठक अथवा श्रोता के मन को, विशुद्व आह्लाद एवं विस्मय से अभिभूत कर देने की, जो कुछ भी क्षमता है, वह वस्तुत साहित्य में परिव्याप्त लोकवार्ता तत्व ही है।

साहित्य में लोक चेतना का स्थान

साहित्य में लोक चेतना का महत्व न केवल उसकी व्यापक परिव्याप्ति मे ही निहित है वरन् उसके दृष्टिकोंण को समक्ष रखने से साहित्य के मूल्याकन एवं समालोचन मे भी अमूल्य सहायता मिलेगी। एक प्रकार से यो कहा जा सकता है कि साहित्य में लोकचेतना का महत्व अतुलनीय है साहित्य मे लोक चेतना की परिव्याप्ति तो केवल उसकी साहित्य के लिए अनिवार्यता का द्योतक है। भारत प्रधानतः जनपद राष्ट्र रहा है। इसके अधिकाश निवासी कृषक एवं गोपाल रहे है। सहस्रो वर्षो की सभ्यता–संस्कृति के अवान्तर मे भी, जन–साधारण की चिन्तनधारा मे नगर और ग्राम, अभिजात कुल एव लोक जैसे विभिन्न वर्गो की चेतना, रूपायित नही हो पायी। नित्यप्रति के जीवन मे भी नगर और ग्राम निवासियों के बीच भौगोलिक अन्तर पहले कभी नही आ पाया। इसीलिए लोक चेतना जीवन में एव लोक जीवन के प्रतिबिम्ब साहित्य मे निरन्तर बना रहा है।

लोक चेतना का स्रोत इतना चिरन्तन होता है कि जब कहीं से कोई धार फूट निकलती है तो जल्दी सूखती नहीं अपितु दीर्घकाल तक लोक–चित्त को आप्लावित करती रहती है। लोक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम लोक संस्कृति है और लोक संस्कृति ﴾फोक लोर﴿ के पीछे लोक परम्परा की ऐतिहासिक, सामूहिक विश्वासों की मनोवैज्ञानिक और लोक–रजन की सामाजिक पृष्ठभूमि होती है। लोक संस्कृति निरनतर संबर्द्धित होती

रहती है। उसकी इस अद्भुत आन्तरिक शक्ति के कारण प्राय साहित्य के विविध रूपो मे इसके विभिन्न तत्वों का समावेश होता है कही आशिक रूप मे तो कहीं समग्र रूप में। डा0 रवीन्द्र भ्रमर ने लिखा है. "किसी साहित्यकार को जब कभी जनता के निकट जाने की आवश्यकता पडी है, जब उसने लोक–जीवन को किसी प्रकार का धार्मिक सामाजिक अथवा कोई उपदेश देना चाहा है तो उसने अपने साहित्य को लोकवार्ता के तत्वों से अधिमण्डित करके उसे लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया है।"[1] इन्होने यह भी कहा है कि "लोक तत्वो के योग से आभिजात्य साहित्य की रचना लोक सस्कृति का दिग्दर्शन कराने के लिए भी की गयी है।"[2] यही पर इन्होने इतिहास और लोक संस्कृति तथा लोक–साहित्य का अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है– "इतिहास केवल राजाओं–महाराजाओ के ऐश्वर्य एव उनकी जय–पराजय की कहानी कहता है। जन–जीवन की कहानी और उसकी प्राचीन सस्कृति को सुनने–समझने के लिए लोक साहित्य और लोक वार्ताओ (लोक सस्कृति) पर आश्रित सत्–साहित्य हमारी पर्याप्त सहायता करता है।"[3]

काल के चिरन्तन प्रवाह मे लोक–सस्कृति के अनेक तत्व श्रेष्ठ साहित्य मे समाविष्ट होते गये है। प्राय देखा जाता है कि सभी परवर्ती साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से लिखित हो अथवा मौखिक, कुछ न कुछ तत्व अवश्य ग्रहण करता है। इस सम्बन्ध मे डा0 श्याम परमार ने लिखा है "यह एक स्वाभाविक आवर्तन है जिसमे लोक साहित्य अपना पर्याप्त अश आगामी शिष्ट–साहित्य मे समाहित करता जाता है। उदाहरण स्वरूप लोकधुनो पर आधारित गीत लोकगीत की सहज बनगट[4] के पक्ष में, "अह चैतन्य" के स्तर पर एक प्रकार की स्वीकृति है। नयी कविता मे भी यह प्रवृत्ति झलकी है। आत्मचेतना और लोक साहित्य–बोध की यह प्रक्रिया इतनी सहज है कि शिष्ट वर्ग अपने ज्ञापित चैतन्य के कारण उस स्वीकार करने मे संकोच करता है। इस दृष्टि से हिन्दी के उदय–काल का साहित्य पूर्ववर्ती मौखिक साहित्य का सस्कृत रूप है और उसी भाँति आगे का साहित्य अपने स्वाभाविक प्रत्यावर्तन में लोकतात्विक भूमि पर आधृत है।"[5]

<u>उपन्यास एवं लोक चेतना</u>

साहित्य के विविध रूपों मे से कवल उपन्यास मे लोक चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति सभव है। उपन्यास जन–जीवन के कोने–कोने में झाँकने की सहज प्रकृति एव क्षमता रखता है। यहीं नहीं उसमें अमूर्त लोक–मानस भी प्रतिच्छायित रहता है।

---

1 डा0रवीन्द्र भ्रमर हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक तत्व

2 वही

3 वही

4 यह एक राजस्थानी शब्द है जो बुनावट के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

5 डा0 श्याम परमार लोक साहित्य विमर्श पृ0–2

उसमे धर्म, जाति, देश अभिजात्य आदि की सकीर्ण धारणाए एव पूर्व धारणाएं विलुप्त हो जाती हे और उसमें वक्ता और श्रोता मात्र मानव बनकर उन्मुक्त विहार करने की रसात्मक अनुभूति में कुछ काल के लिए विभोर एवं आत्म–विस्मृत हो जाते है। उपन्यासकार विशुद्व निरपेक्ष एव बिना कृत्रिम अभिजात्य कुलीनता–शालीनता का स्वाग भरे, अपनी मनोरंजिनी, जन–मन–हारिणी, विस्मय–विमुग्धकारिणी सर्वप्रिय कहानी–सुनाकर चुपके से अनजाने ही विदा हो जाता है।

साहित्य, यदि मानव–मात्र की सम्पत्ति मान ली जाये तो उसकी एकमात्र उपन्यास विधा ही साहित्य की सार्वजनीन विशिष्टता का निर्वाह करने में समर्थ है। हमारे प्राचीन महाकाव्यकारों ने अपने कृतिरूपी चित्रफलक पर अखिल जन–जीवन को उकेरने का महान एवं स्तुत्य प्रयास किया है किन्तु फिर भी वे अपनी सारी लोकानुभूति को अपनी कृतियो मे उतार नहीं पाये क्योंकि उनके सामने छन्दोबद्वता, गति एवं यति तथा साहित्य–शास्त्रीय अभिव्यजना एव भाषा की सीमाए थी। अब रही रगमच की बात सो उस पर तो कितने ही लोक–व्यापार इसलिए निषिद्ध हे क्योकि उनमे बहुसख्यक जनसमुदाय को साक्षात् प्रदर्शित करने में मच की सकीर्ण सीमाए सदा ही रूकावट रही हे। जब कभी भी नाटक मे जन–समुदाय की उपस्थिति सूचित करनी होती हे अथवा वातावरण की सृष्टि करनी होती हे तो उसमें नेपथ्य आदि कृत्रिम उपाया एव साधनों का उपयोग करना पडता हे किन्तु उपन्यासकार के मार्ग में ऐसी कोई भी रोक-टोक नहीं पाई जाती। इस प्रकार साहित्य रूपो में उपन्यास ही समग्र जनजीवन को समा लेने की क्षमता रखने वाली एकमात्र साहित्यिक विधा हे वस्तुत वह सीधे तोर पर लोकमानस की प्रतिच्छाया है।

उपन्यास न सर्वथा अभिनव कथाकृति ही हे ओर न वह मात्र कल्पना की ही उपज है। अपने देशकाल की परिस्थितियो को अपने मे समेटकर वह नवीन परिधान अवश्य धारण करता रहता है। किन्तु उसकी थाती या धरोहर, परम्परा की युगों की, वह कथा समृद्वि है जिसने कि मानव–जाति के भौतिक, देविक एवं अधिदेविक ताप संतापो को सहन करने की क्षमता दी है। यह सत्य है कि उपन्यास तथा समग्र कथा–साहित्य कल्पना का माध्यम लेकर चलता है किन्तु वह कल्पना केवल वह बाल–सुलभ विस्मय ही हे जो कि उपन्यासकार के मन मे इस चित्र–विचित्र जगत की एव लोक मानस की सतरंगिणी लहरों की निरन्तर क्रीड़ा को देखकर उदित होता हे और जो उसके कल्पना–लोक पर छा जाता है। इस भाँति उपन्यास, सत्य ही नही, शाश्वत सत्य के शब्द चित्र और भावचित्र उपस्थित करता है।

"रानी केतकी की कहानी" न केवल आद्य हिन्दी ओपन्यासिक कृति के रूप में, वरन् हिन्दी उपन्यास में लोक कथा-शेली के परिणित और रूपायित होने के एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में भी चिरस्मरणीय उपन्यास है। अपनी प्रकृति कथावस्तु के चुनाव तथा कल्पना की भावभूमि मे, इन सभी ग, वस्तुत वह विकसित तथा लोककथा प्रसरित एवं बद्धित होकर उपन्यास नही बन सकती। आकार नहीं, मौलिक प्रकृति ही लोककथा और उपन्यास के बीच का अनिवार्य समान धर्म है इसीलिए एक वास्तविक एवं शाश्वत, औपन्यासिक कृति मे, लोक जीवन ही, प्राथमिक पृष्ठभूमि एव आधारभूमि बनता है। उपन्यास की अन्तर्चेतना ही कहानी के कहने-सुनने की जिज्ञासा एवं अभिव्यंजना की सहज मानव प्रवृत्ति का व्यक्त रूप है। जब तक पाठक उपन्यास को सच्ची कहानी मानकर आत्मविभोर न हो जाये तब तक वह सफल कृति नही कहला सकती। यही नहीं परम्परागत सस्कार, रीति-नीति, लोक-विश्वास, लोक धारणायें, लोक अनुश्रुतियो, लोककथा के विविध कथातन्तु, कथारूपो तथा लोकभाषा का सरल सहज माध्यम ये सभी एक वास्तविक उपन्यास के अनिवार्य उपकरण बनते है। वार्तातत्व तथा लोकरंजन उपन्यास-रथ के दो पहिये है। इस भाँति उपन्यास गद्य साहित्य ही नहीं लोक साहित्य भी है।

हिन्दी उपन्यास के, लोक कथा से उपन्यास रूप मे रूपायित होने का श्री गणेश इस भाँति "इंशा" के इस संज्ञात्मक उपन्यास से हुआ है। हिन्दी उपन्यास मे इंशा की इस लोककथा शैली की परम्परा को अद्यावधि निर्वाहित ही नहीं किया गया वरन् अपने उत्तरोत्तर विकास क्रम के अनुसर उसे सतत् अग्रसर भी किया गया है। इस परम्परा की सुदीर्घ एवं संकरी पगडण्डी के पथचिन्हो के रूप में ही चन्द्रकान्ता, कायाकल्प, सोना, बलचनमा, मैला आंचल और परती परिकथा आदि लोक कथा-शेली के कुछ ऐसे उपन्यास है जिनमें युग-युग से प्रचलित लोक कहानियों की उनके प्रभूत लोकवार्ता तत्व के वेभव के बहुमूल्य हाय के साथ उपन्यास रूप मे परिणति को, सफल एव कलात्मक लोकवार्तात्मक सम्पूर्णता प्रदान करके लोकवार्तात्मक सपूर्णता प्रदान करके हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने प्रतिभाप्रसूत साहित्यिक उद्योग को कृतार्थ किया है।

आद्य हिन्दी उपन्यासकारों ने यद्यपि इस बात का ध्यान रखा कि अपनी औपन्यासिक कृतियों का नामकरण प्राचीन संस्कृत शब्द "उपन्यास" द्वारा करे और अपनी कृतियों में भारतीय लोक कथाओं एवं लोक जीवन को विन्यास और कथावस्तु दोनों के रूप मे

अपनाये रहे किन्तु आधुनिक हिन्दी उपन्यासकारो विवश होकर नाम तो भारतीय ही रखा परन्तु उन्होने लोक जीवन और लोक यथात्मकता दोनो ही की ओर से घोर उपेक्षा दिखाते हुए एक ऐसे कल्पित पाश्चात्य जीवन को भारतीय पात्र–पात्राओं के बीच ला उपस्थित किया जिसकी वास्तविक अनुकृति सभव हे किसी पाश्चात्य देश मे भी न मिल पाये।

साहित्य में लोक चेतना का अध्ययन एवं अनुसंधान इस मायाजाल और भ्रांति व्यूह मे से आलोचना एवं साहित्यमानों के श्रेय और प्रेम पथ को प्रशस्त करने में अतुलनीय सहायता प्रदान करेगा क्योंकि लोक चेतना लोकमानस की सबसे गहरी स्तह तक, मानव जाति के इतिहास सूत्रो की जड़ो तक परीक्षण एव अनुवीक्षण करने में समर्थ है।

साहित्य की एकमात्र उपन्यास विधा मे लोक जीवन के विशालरूप को समग्रता के साथ अभिव्यक्त किया जा सकता है क्योकि कहानी, नाटक, काव्य आदि साहित्यिक विधाओ के छोटे कलेवर मे लोक जीवन के विस्तार को समेटा नहीं जा सकता है। इन विधाओ मे रचनाकार को अपने विचारों को विस्तार के साथ अभिव्यक्त करने की भी स्वतत्रता नही होती है। उन्हें अपना सब कुछ रचना के सीमित दायरे में ही अभिव्यक्त करने को बन्दिश होती है। इसलिए लोक जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास ही सबसे अधिक साहित्यिक विधा है। उपन्यास मे उपन्यासकार जन–साधारण की जीवन शैली को अपनी मनोरम कल्पना के सप्तरंगी रंगों में रंगकर चित्रित करता है, जिससे यथार्थ जीवन की नीरसता एव शुष्कता समाप्त हो जाती हे और पाठको के लिए लोक जीवन प्रेरणाप्रद स्वस्थ मनोरंजन से युक्त तथा स्फूर्तिदायक सिद्व होता है। इस प्रकार उपन्यास में कल्पना, प्रयोग की जितनी स्वतंत्रता लेखक को होती है, उतनी अन्य साहित्यिक विधा में नही होती। इसके अतिरिक्त उपन्यास का आकार कथानक के समानुपाती होता है। कथानक के छोटा होने पर उपन्यास का आकार छोटा होता हे जबकि अन्य साहित्यिक विधाओ के लगभग निश्चित आकार होते हैं। क्योंकि उपन्यास का आकार कथानक के विस्तार से निश्चित होता है, अत उसमे विस्तृत कथानक को लिखने की गुजांइश होती है। यही कारण है कि उसमें एक साथ सम्पूर्ण लोक जीवन का चित्रण किया जा सकता है। इस प्रकार पाठक उपन्यास के माध्यम से जन–साधारण के रहन–सहन, रीति–रिवाजों, परम्पराओं, आचार–विचारों, विश्वासों एवं अध विश्वासों आदि से परिचित होते है। उपन्यास मे लोक जीवन के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक आदि विविध पक्षों का विशद् वर्णन किया जाता है। उसमे जन–साधारण की संवेदनाओ, उमगो, समस्याओं एवं उनके समाधानों तथा शिष्ट जनो के सम्पर्क में आने से उनके परम्परागत

जीवन मे आये हुए परिवर्तन का यथार्थ एव सजीव चित्रण किया जाता है।

लेकिन उपन्यास में चित्रित लोक जीवन वास्तविक लोक जीवन से कुछ भिन्न होता है। वास्तविक लोक जीवन की घटनाएं असम्बद्ध, क्रमरहित एवं अस्पष्ट होती है। उनमे कार्य–कारण सम्बन्ध या तो अत्यन्त गुप्त होता है या फिर उसका अभाव होता है। उपन्यास मे चित्रित लोक घटनाएं सुसम्बद्व, क्रमबद्व एवं स्पष्ट होती है। उनमे उपन्यासकार अपने विवेक एवं कल्पना से कार्य–कारण सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें साभिप्राय बनता है। उसी प्रकार यथार्थ लोक जीवन के पात्र प्राय निरूद्देश्य होकर कार्य प्रवृत्त होते हैं लेकिन उपन्यास में वे किसी उद्देश्य विशेष से लेकर ही कार्य प्रवृत्त होते है। इस प्रकार औपन्यासिक लोक जीवन यथार्थ जीवन से कुछ भिन्नता लिए हुए होता हे लेकिन उपन्यास में चित्रित लोक जीवन यथार्थ लोक जीवन से एकदम भिन्न नही होता है। औपन्यासिक लोक जीवन का कथानक वास्तविक लोक जीवन के समानान्तर .होता है। उपन्यासकार वास्तविक लोक जीवन के पात्रों एवं घटनाओं की ऐतिहासिकता तथा उनकी प्रमाणिकता को समाप्त नही कर सकता है। ऐसा करने पर औपन्यासिक जीवन अस्वाभाविक एवं उपहास का विषय बनकर रह जायेगा। उपन्यासकार तो यथार्थ की शुष्कता से बचने के लिए तथा पात्रों एव घटनाओं को सुसम्बद्व, क्रमबद्व एवं उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए अपने विवेक एव कल्पना से उसमें आपेक्षित, आंशिक परिवर्तन करता है। शेष यथार्थ लोक जीवन के समान ही रहता है।

इस प्रकार उपन्यास और लोक जीवन में गहरा सम्बन्ध है। लोक जीवन के यथार्थपरक मनोहर जीवन का चित्रण उपन्यास के माध्यम से ही संभव है अन्य किसी साहित्यिक विधा के माध्यम से नहीं। सुप्रसिद्व ब्रिटिश आलोचिका क्लेरा रीव ने भी उपन्यास तत्व की उदार और सहज प्रकृति को स्वीकार किया हे जिसका आधार लोक जीवन हे और जिसकी सफलता उसके वास्तविक एव संवेदनशील चित्रण में है। क्लैरा रीव का अभिमत है कि "उपन्यास वास्तविक लोक जीवन एवं लोक व्यवहारो का एक वास्तविक चित्र हे और उसमें, उस काल का भी प्रतिबिम्ब पाया जाता है जिसमे कि वह लिखा जाता है। इसके विपरीत रोमास अथवा मात्र कल्पना की रोमानी कृतियॉं एक ऐसे जीवन का वर्णन करती है जो कभी नहीं रहा और न कभी रहेगा ही। वे शानदार और ऊँची भाषा का प्रयोग करते है किन्तु उपन्यास ऐसी बातों के साथ हमारे चिरपरिचित सम्बन्ध का ध्यान रखता हे जो कि हमारे ऑंखो के सामने हर दिन गुजरती रहती है और

जा हमारे मित्र के अथवा हमारे अपने जीवन मे, कभी भी घट सकती है और उपन्यास की सम्पूर्णता इस बात में हे कि वह प्रत्येक दृश्य को ऐसे सरल और सहज रूप मे प्रस्तुत करे कि वे हमें इतने सम्भाव्य जान पड़े कि हम यह मानने को एकदम तेयार हो जाये कि वह समग्र वर्णन सच्चा है। इससे हम कहानो के पात्रों के हर्ष और विषाद से इस भाँति अभिभूत हो जाते हे मानो वे हमारे अपने ही सुख–दु ख हो।"[1]

आंचलिक उपन्यास एवं लोक चेतना

युग और समाज से अपने प्रकृत रूप मे सम्बद्व लेखक अपने अनुभवो को अभिव्यक्त करना चाहता है। अभिव्यक्त मात्र उसकी अपनी ही नही होता अपितु युग और समाज के साथ उसकी स्वाभाविक भागीदारी होती है। देश का जीवन विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होकर अनेक उतार–चढावो से गुजरता है। ऐसे व्यापक जीवन का चित्रण उपन्यास द्वारा ही संभव हो सकता था। अत उपन्यासकारो ने युग के अनुरूप ही देश की आचलिक पृष्ठभूमि को अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया। आंचलिकता अपने आपमे एक जीवित संस्कार हे। अंचल को आचलिकता प्रदान करने वाले कुछ विशेष तत्व होते है।[2] प्रथम तत्व है अचल की विशेष भोगोलिक स्थिति। ये अंचल प्रकृति की गोद में, वेज्ञानिक सभ्यता के प्रभाव से दूर, बसे जनपद होते है। इनका क्षेत्र अवश्य सीमित होता हे परन्तु विस्तार मे गहराई में नही। प्रकृति, जिसकी गोद मे ये बसे होते हे, उनके लिए देतवा भी होती है और सहचर भी। एक ओर उनके लिए श्रद्वा का कारण होती है तो दूसरी ओर भय का भी। दूसरा तत्व इन्हीं भोगोलिक परिस्थितियो का परिनाम होता हे– समस्याए ये समस्याए सम्पूर्ण जीवन को अनुप्राणित किये रहती है। आंचलिक समाज पर इनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता हे। तीसरा तत्व होता है इन्हीं समस्याओ के कारण उत्पन्न–पिछडापन इस पिछडेपन के भी अपने कारण होते हें जैसे स्थानों की

---

1 क्लेरा रीव प्रोग्रेस आफ रोमान्स, पृ0 102–113
उद्धृतकर्ता, डा0 इन्दिरा जोशी भारतीय उपन्यासों में लोकतत्व

2 डा0 आदर्श सक्सेना हिन्दी के आंचलिक उपन्यास ओर उनकी शिल्प विधि, पृ0 22–23

अगम्यता, शहरों से दूरी, अस्वस्थप्रद वातावरण आदि। वैसे पिछड़ापन भारत की एक राष्ट्रीय समस्या है अत कृषकों से आबाद गाँव स्वत ही अचल की परिधि में आ जाते है। चौथा तत्व इसी पिछड़ेपन का परिणाम है– विशिष्ट प्रकार का जन–जीवन, मान्यताएं, अध विश्वास, रीति–रिवाज, सस्कार–समग्र रूप मे एक विशिष्ट सस्कृति, लोक सस्कृति।

आचलिकता शब्द की संरचना मे अचल का अर्थत्व और महत्व निर्विवाद है। सामान्यत अचल शब्द से आशय किसी प्रदेश विशेष से है। यही कारण है कि इसके पर्याय रूप मे प्रादेशिकता भी प्रचलित है। अंचल तथा उस अचंल विशेष की अपनी मौलिकता होती है। उसके निवासियो का अपना विशिष्ट जीवन–विधान होता है। उनकी अपनी कार्य विधि होती है, सस्कृति और सभ्यता होती है, प्राकृतिक परिपाश्र्व होता है। इन सभी को चित्रित करने की प्रवृत्ति के आचलिकता कहते है। आंचलिकता से युक्त किसी उपन्यास को विशुद्व आंचलिक उपन्यास कहना तभी उपयुक्त होगा जब उसमे निश्चित अंचल का भू–भाग और वहाँ के समग्र सास्कृतिक और लोक जीवन का चित्रण निहित हो। आचलिकता के आवश्यक लक्षणो में किसी अंचल के सामूहिक मानस (कलेक्टिव माइड) का स्थान महत्वपूर्ण होता है। आचलिक उपन्यास का यह अनिवार्य लक्षण है। इस अंचल की अपनी प्रथाएं, परम्पराए और मान्यताएं तो होती ही है। इन्हीं से सचालित वह विशिष्ट अंचल अन्य अचलो से भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। किन्तु सामूहिक विचार और भावधारा जो उपर्युक्त लोक तत्वो से संस्कार ग्रहण कर अपनी अस्मिता तथा अस्तित्व के जीवन्त क्रियाकलापो की वर्तमान समस्याओ के संदर्भ मे चरितार्थ करता है। अचल – विशेष के समग्र रूप को उद्भाषित करने में समर्थ होती है।

आचलिकता एव आचलिक उपन्यास की विवेचना के पश्चात् उपन्यास के छ प्रमुख तत्वों– कथावस्तु, कथोपकथन, पात्र और चरित्र, देशकाल एव वातावरण, भाषा–शैली और उद्देश्य के परस्पर संगठन में आचलिक तत्वो और लोक तत्वो के सहयोग सम्बन्ध का स्वरूप उद्घाटित करना अपेक्षित होगा।

उपन्यास की रीढ़ कथावस्तु अथवा कथानक है। इसी के आधार पर विभिन्न घटनाओ का विस्तार तथा मुख्य कथा के साथ गौण कथाओं का विकास किया जाता है यह स्पष्ट है कि आंचलिक उपन्यास की कथावस्तु अचल विशेष की रीढ़ होती है, जिसमे आंचलिक जीवन और उसकी गतिविधियो को लेकर विभिन्न सांस्कृतिक

प्रवृत्तियो को रूपायित किया जाता है। स्थानीय वातावरण के माध्यम से आंचलिक अनुभूति को गहराई से व्यंजित करने के लिए ग्राम्य–जीवन की विभिन्न गतिविधियो को श्रृंखलाबद्ध कर कथानक का रूप दे दिया जाता है, जिसमे वातावरण की प्रमुखता होती है। इस प्रकार का आचलिक उपन्यास में कथानक का रूप वातावरण ही ले लेता है क्योंकि आंचलिक वातावरण में ग्राम्य जीवन के लोकवार्तागत संस्कार और सांस्कृतिक गतिविधियों के चित्रण की स्थिति स्वत जुडी हुई होती है। विषय की दृष्टि से ग्राम्य–परिवेश स्थानीय जीवन, जिसके अन्तर्गत अपने विभिन्न आयामों के साथ कथानक का विस्तार करता है, विविध दृश्यो की अधिकता होती है। यही कारण है कि आचलिक उपन्यास मे कथावस्तु के स्थान पर दृश्य–चित्रों की भरमार रहती है। लेकिन ये दृश्य चित्र कथानक को रूपायित करने मे सहायक होते हुए भी कथावस्तु की स्वतन्त्र सत्ता के रूप में नियोजित नहीं होते। बल्कि विषय वस्तु को आचलिक परिवेश तथा घटनाओं के विभिन्न वातावरणो द्वारा गति प्रदान करते है। इस प्रकार विभिन्न दृश्य चित्रो के सूत्रबद्व होने से जहाँ आचंलिक जीवन अपनी सम्पूर्ण सांस्कृतिक सत्ता के साथ प्रतिबिम्बित होने लगता है वही मुख्य कथानक को विकास की विभिन्न भगिमाओ के साथ संस्कारित भी करता है।

आचलिक उपनयासों में अचंल से सम्बद्व अनेकानेक घटनाओं के द्वारा मूल कथा को गति मिलती है। ऐसा भी होता है कि मूलकथा के साथ अनुसगिक तथा समानान्तर कथायें भी विभिन्न घटनाओं के तारतम्य में विकसित होकर एक–दूसरे के सहयोग करती हुई अन्नत एक साथ मिल जाती है। ये घटनायें ग्राम समस्याओं के चिर–परिचित अभिप्रायों से संचालित और गतिमान होती है। लेकिन ये घटनाएं जो लोक प्रवाद, परम्परा, कहावत या गीतों से सन्दर्भित होती है कथा को कई पहलुओं और खण्डों मे वर्तमान घटनाओ के साथ जोड़ती है। आँचलिक उपन्यासों में आंचलिकता के प्रति आग्रह होने के कारण लोक जीवन का चटक रंग इन घटनाओं को अपेक्षाकृत अधिक विशेषित कर देता है। समग्रत आचलिक कथा साहित्य में लोक तत्वों के अंगीकार का महत्वपूर्ण उपादान अंचल विशेष के देशकाल, परिस्थिति और परिवेश के बीच से होता है। इसलिए घटनाए भी इन्हीं के तारतम्य से विकसित और उन्हीं के रंग ढंग से सयोजिन होती है।

आचलिक उपन्यासों में अनेक प्रकार के चरित्र प्रस्तुत हुए हैं। ये चरित्र अचल विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। कथाकार उन्हीं के माध्यम से आंचलिक लोकमानस और लोक–व्यवहार को घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करता है। आंचलिक उपन्यासों के

चरित्र अपनी–अपनी आचलिक विशेषता के अनुरूप अपने व्यक्तित्व का हृदयग्राही सविकास करते हुए दिखलायी पडते हैं। ये चरित्र अंचल की सामाजिक–सास्कृतिक विशेषताओं के अनुरूप निर्मित है और सचमुच में वे सभी अच्छे बुरे पात्र अपने–अपने क्रियाकलापों के माध्यम से अचल विशेष के विशाल चरित्र फलक के विविध आयामों का उद्घाटन करते हैं।

आचलिक उपन्यासों का नायक अचल ही होता है जिसमें उसके सम्पूर्ण पात्रो का चरित्र एक साथ सन्निहित रहता है। इसलिए स्थूल रूप से सम्पूर्ण लोकचित्र अपने वेविध्य के साथ जिस परिवेश और वातावरण मे सरचित उद्घाटित करता है। चूँकि अचंल की परिस्थितिक रूपरेखा परम्परागत ढंग से बनती रही हे और उससे लोक भावना और आस्था का निकटतम सम्पर्क रहा हे, इसलिए लोकवार्ताओं आंचलिक परिवेशगत तत्वो से युकत होती रही है। वास्तव मे अचंल जिन समस्त विषयों और वस्तुओ को मिलाकर बनता हे, उसका एक भौगोलिक तथा चाक्षुस प्रत्यक्ष रूप भी हे। अंचल की धरती, वन, पहाड, प्राकृतिक परिवेश नदी, झरना, पशु–पक्षी, रहन–सहन, व्यक्तित्व मकान आदि जो कुछ भी दृष्टिगत होता हे अंचल का आवरण है। आंचलिक उपन्यासों में इस आवरण के विभिन्न चित्र सजोये रहते हे। वे प्राय घटनाओ की भूमिका के रूप में प्रस्तुत होते हैं और स्थानीय दृश्य विधान रंग ढग तथा प्राकृतिक परिवेश के मिले जुले रूपों में अंचल की सज्ञा को चरितार्थ करते हे।

वातावरण के साथ ही साथ देशकाल भी लोक तत्वों से आवेष्ठितत रहता हे। देशकाल का अर्थ है स्थान और समय स्थान तो स्वत अंचल का विषय है वह परिवेश से अलग हो ही नहीं सकता। किन्तु काल देश निरपेक्ष सत्ता है। आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष के सन्दर्भ में किसी काल विशेष को चित्रित करते समय उपन्यासकार उस अंचल से समय को निरपेक्ष नहीं रख सकता। यह संभव है कि समय के विकास के साथ अचलगत लोकतात्विक स्वरूप में भी विकास और परिवर्तन हो जाय । लेकिन यह संभव नहीं है कि एक ही अंचल में परिवेश और काल के स्तर भिन्न–भिन्न हो। कोई घटना अथवा चरित्रगत क्रियाकलाप जिस परिवेश और देशकाल मे नियोजित होता है वह प्रत्यक्ष रूप से पात्र तथा कथा को प्रभावित भी करता हे। पात्र और कथा दोनों की लोक –वृत्ति के साथ परिवेश और देशकाल का सहज समन्वय अपने आप स्थापित हो जाता हे। इसलिए आंचलिक उपन्यासो मे चरित्रगत परिवेश तथा देशकाल अथवा कथागत परिवेश एव देशकाल अंचल के लोक वार्तागत सस्कारो से सापेक्षिक रूप में गहरे जुड़ा रहता हे।

कोई घटना घटती है उसका एक परिवेश होता है। जिन स्थितियों मे ये घटनाएं विकसित होती अथवा मोड़ लेती है, उनमें भी अचल की विशेषताएं सम्पुटित रहती है। यदि ये विशेषताए लोकतात्विक है तो स्वत अंचल के परिवेश और लोक तत्वों के एकीकरण को सहज रूप से स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार चरित्र के विकास की परिस्थितियाँ होती है। यदि चरित्र में लोक-तात्विक चेतना का वेग है तो नि.संदेह उसका परिवेश भी उस वेग से मुक्त नहीं हो सकता। घटनाये या चरित्र किसी भी काल में क्यों न रूपायित होते हो यदि उनकी प्रकृति लोकतात्विक है तो काल उसमें किसी भी लोकतात्विक है तो काल उसमे किसी भी प्रकार की बाधा नही डालता।

आचलिक उपन्यासकार मोलिक रूप से लोकोक्तियो, लोक गीतो, लाक वचनो, संभाषणों आदि के उद्धरण अथवा प्रयोग द्वारा अंचल विशेष की भाषिक अभिव्यक्तियों को जेसा का तेसा प्रस्तुत कर लोक का सही तथा स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करते है। ऐसे नमूने लोक जीवन से चुने जाते है। इनके साथ लोकतात्विक सत्ता परम्परा प्राप्त ढंग से चिरकाल से निबद्व रहती है। लोक प्रचलन तथा लोक स्वीकृति के कारण उनको लोकप्रियता प्राप्त रहती है। ये लोकमुख से प्रत्यक्षत गृहीत होते है और लोक की प्रज्ञा, बुद्विमता, अनुभूति, चातुरी, रसात्मक भावना नीतिमत्ता आदि का प्रतिनिधित्व करते है इसलिए इन नमूनों से जुड़े लोक वार्तातत्व अचल विशेष के सम्पूर्ण संस्कार, व्यवहार और विचार को बड़ी तीव्रता तथा यथार्थता के साथ अनुभूत कराने मे समर्थ होते है। भाषा की इकाईयो अर्थात् वाक्यों के रूप में ऐसे निरर्थक या सार्थक लोक प्रचलित वचनों की खड़ी बोली की जमीन में प्रस्तुति का उद्देश्य लोक सास्कृतिक चित्रण है।

आंचलिक प्रवृत्ति वास्तव मे यथार्थवादी दृष्टि से सम्बद्व है जो नगरीय अथवा ग्रामीण दोनो ही अचलों की संस्कृति, वहाँ के यथार्थवादी जीवन का चित्रांकन करती है। वह आंचलिक जीवन के समग्र रूप को यथार्थवादी धरातल पर रूपायित कर सके उसके लिए उसमें लोक भाषा का व्यवहार लोकगीतों की नियोजना परम्परागत लोक कथाओं का सन्दर्भ आचलिक जीवन की राजनीतिक सास्कृतिक ओर सामाजिक स्थिति आदि बातें आंचलिक उपन्यास की शिल्पगत विशेषताओं को उद्दीप्त करने में सहायक हैं। आंचलिक व्यजना शब्द प्रयोग और भाषा पद्वति उसके यथार्थवादी जीवन को सहज-स्वाभाविक रूप से चित्रित करता है। आचलिक उपन्यासो की शेली मूलत रिपार्ताज शेली है। इस शेली मे किसी घटना या चरित्र का यथा तथ्य रूप मे सवाद संकलन कर दिया जाता है।

इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि घटनाओ को स्वतत्र या सकलित कर दिया जाता हे जो परस्पर सम्बद्व होने के कारण एक उपन्यास का रूप ले लेता है। इस शैली में प्रत्येक घटना या कई घटनाओं से मिलकर अलग-अलग स्वतत्र रूप में विकसित होती हुई अपने आप में पूरी होती है। आंचलिक उपन्यास की दूसरी प्रसिद्व शैली है-फोटोग्राफी शैली। इसमें विभिन्न मोहक चित्रों दर्शनीय स्थलों खण्ड दृश्यो, सकलित लघु चित्रों का अर्थपूर्ण संयोजन रहता है और उनका स्वरूप एक एक अलबम में संकलित छोटे चित्रो के समान होता है। ये सभी चित्र तथा दृश्य एक साथ मिलकर उस अचल विशेष की सस्कृति को पूर्ण रूप से उजागर करने मे समर्थ हो जाते हैं। संवादो मे आचलिक भाषा का यथार्थवादी रूप ही ग्राह्य होता है।इस यथार्थवादी रूप को व्यक्त करने के लिए पात्रो की उच्चारण प्रक्रिया का सही -सही अनुकरण किया जाता है। लोक भाषा में तद्भावीकरण की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। आंचलिक उपन्यासकारों ने अपने आचलिक पात्रो की बोलचाल के लिए इसी तद्भवीकरण की पद्धति को विशेष महत्व दिया है। इस अनुकरण से भाषा में नाद व्यंजना आ गयी है। विभिन्न ध्वनियो के तद्भव अनुकरण से बने शब्दों का उपयोग भी बोली की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

आचलिक उपन्यासो का उद्देश्य किसी अचल के परम्परागत जीवन तथा उसके बदलते आधुनिक मूल्यों के सन्दर्भ मे चित्रण करना है, वस्तुत आचलिक उपन्यासो मे अचल विशेष की लोक सांस्कृतिक जीवनधारा का चित्रण होता है। इसका उद्देश्य भी लोक जीवन के भूत और वर्तमान को यथार्थवादी ढंग से चित्रित करना है।

इस प्रकार आचलिक उपन्यास कथानक, भाषा, चरित्र, शैली, संवाद तथा उद्देश्य के स्तर पर लोक वृत्ति का अनुगमन करने के कारण सहज ही लोक तात्विक वृत्ति से सम्पुष्ट प्रतीत होते है। इस प्रकार साहित्य मे लोक चेतना की अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप में होती है। साहित्य मे लोक चेतना का महत्व एवं उपादेयता असदिग्ध है।

****

चतुर्थ अध्याय

रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में लोक चेतना का राजनीतिक आयाम

1. स्वाधीनता
2. तात्कालिक युग–बोध
3. पचायत–राज
4. जमीदारी उन्मूलन कृषक मजदूर की परिवर्तित मानसिकता
5. सामंतीय जीवन में विघटन
6. दलीय प्रतिबद्धता
7. जातीयता
8. चुनाव एवं लोक जीवन मूल्य
9. विद्रोह वृत्ति– समाजवादी जनचेतना का उदय

*****

चतुर्थ अध्याय

रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य में लोक चेतना का राजनीतिक आयाम

राजनीतिक चेतना साधारण जनता की वह परिवर्तित-अपरिवर्तित क्रियाशील मानसिकता है जो राजनीति से प्रेरित एवं परिचालित है। साधारण जनता सहज और सरल प्रकृति की होती है। स्वतंत्रता-प्राप्ति ने विभिन्न राजनीतिक स्थितियो को जन्म दिया। यह एक जीवन्त सत्य है कि स्वतन्त्रता पूर्व भी गाँवों मे थोड़ी बहुत राजनीतिक चेतना के बीज थे जो बाद मे पल्लवित एव पुष्पित हुए। स्वातन्त्र्योत्तर गाँवो में राजनीतिक चेतना की लहर पचायत राज्य, वयस्क मताधिकार, सविधान के धर्म निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक स्वरूप आदि विभिन्न राजनीतिक कार्यो से आई है। आज साधारण जनता भी अपने अधिकारो को जानती है और उनके प्रति जागरूक है। ग्राम जीवन के चारो ओर नियोजित एवं सकल्पित योजनाओ ने स्वतंत्रता सघर्ष मे कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने वाले उन ग्रामीणों को उनकी आशा आकाक्षाओ की आपूर्ति ने सोचने को बाध्य किया है। क्या इसीलिए उन्होने ये सब कष्ट उठाये थे ? उनकी राजनीतिक चेतना पर लगा प्रश्नचिन्ह उन्हें बार-बार सोचने को विवश करता है। राजनीतिक स्तर पर उनकी क्या आशा आकांक्षाएँ थी, कैसे पूरी हुई तथा इस क्षेत्र मे कौन सी विसगतियाँ आ गयी है। रेणु और नागार्जुन को साधारण जनता की राजनीतिक जागरूकता की अच्छी पहचान थी। उनके कथा-साहित्य में इन स्थितियों का सजीव एव मार्मिक विवरण प्राप्त होता है।

स्वाधीनता

रेणु कृत "मेला आंचल" के गाँव मेरीगंज में स्वाधीनता के सग्राम-स्वर बड़े मुखर है। ग्राम जीवन मे स्वाधीनता के महत्व से वहाँ का कोई शिक्षित-अशिक्षित अनभिज्ञ नही है। सारा गाँव मानों विभिन्न पार्टियों में विभक्त उसके लिए वचनबद्ध है। बालदेव और बामनदेव यहाँ के गाँधीवादी एकनिष्ठ नेता है, जो सारे गाँव में विभिन्न सभाओं एव जुलूसों के आयोजन से ग्रमीण जन-जीवन को राजनीतिक गतिशीलता प्रदान करते है। बालदेव चन्दन पार्टी का रहने वाला है लेकिन काग्रेस पार्टी के लोगों ने इसे "फील्ड आर्गेनाइजर बनाया हे वह आजादी के सघर्ष में कई बार जेल जा चुका है। उस बेचारे ने बड़ी यातनाए भोगी है। उसकी आपबीती अपने ही शब्दों मे है", लेकिन पियारे भाइयों, हमने भारतमाता का नाम, महतमा जी का नाम लेना बन्द नही किया। तब मलेटरी ने हमको नाखन मे सुई गडाया, जिस पर भी "इस विस" नही किये। आखिर हारकर जेलखाना में डाल दिया। आप लोग जो जानते ही है कि सुराजी लोग जेहल को क्या समझते है- "जेहल नहीं ससुराल यार हम बिदा करन को जायेगे। मगर जेहल मे अंग्रेज सरकार हम लोगो को तरह-तरह की तकलीफ

देने लगा। भात मे कीड़ा मिला देता था, घास–पात का तरकारी देता था।"[1] बालदेव और उसके साथियों जेल में भी जेलर के विरूद्ध अनशन कर दिया और तब जाकर खाने–पीने की व्यवस्था ठीक हुई। पूर्णिया से कई बार जुलूस ले जाकर वह अपनी प्रबन्ध–क्षमता से कांग्रेसियों को मोह लेता है।

नागार्जुन के उपन्यास "बाबा बरेसर नाथ" के गाँव रूपउली की साधारण जनता भी स्वाधीनता के महत्व से भली भाँति परिचित है। देश के अन्य भागों की तरह रूपउली गाँव की जनता भी गाँधी जी से अत्यधिक प्रभावित थी। नमक–कानून तोड़ने मे यहाँ की जनता सक्रिय सहयोग करती है।" गड्ढ़ा खोदकर तीन चूल्ह बना दिये गये थे। उनमे आँच जलाई गयी। तीन नई हँडियों में नोनी मिट्टी आर पानी घोलकर उन्हें चूल्हों पर चढ़ा दिया दयानाथ ने। ––––नकली नमक का वह दोना उठाकर दया ने लोगों से कहा "भाइयों, इसे आप मामूली मिट्टी मत समझे। यह तो स्वाधीनता दिलाने वाली दवा है। इसके जर्रे–जर्रे से अग्रेज सरकार खोफ खाती है। इस नमक की एक चुटकी एक ओ ओर जातियो का सो मन बारूद दूसरी ओर– वह इसकी बराबरी नहीं कर सकता। यह नमक नहीं है, महात्मा जी का प्रसादी है   यह खाने का नमक नही है ताबीज मे डालने का नमक है।"[2]

गाँधी जी ने युगों से सचित लोक मूल्यों सत्य, प्रेम, अहिंसा आदि के द्वारा ब्रिटिश सरकार की गुलामी से भारतीय जनता को मुक्ति दिलायी। लोक मूल्यों और साधारण वेश–भूषा और खान–पान को अपना कर गाँधी जी ने साधारण जन्ता के हृदय में स्थायी स्थान बना लिया। उन्होंने लोक मूल्यो का सामान्य जनता के हित मे प्रयोग किया। साधारण जनता और गाँधी जी की निकटता का यह एक प्रमुख कारण था। गाँधी जी वास्तव मे लोक मूल्यों के सजीव प्रतिमूर्ति थे। बाबा बटेसरनाथ उपन्यास मे नागार्जुन का अभिमत है कि "आजादी के लिए जो समझदारी पहले थोडे से पढे–लिखे लोगों तक सीमित थी उसे गांधी जी आम पब्लिक तक ले आए। यही उनकी सबसे बड़ी खूबी में मानता हूँ।"[3] कालान्तर में हमारे देश के राजनीतिक

---

1 फणीश्वर नाथ "रेणु" मेला आचल पृ0–32

2 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0–101–102

3 नागार्जुन . बाबा बटेसरनाथ पृ0–99

नताओ ने सामान्य जनता के जीवन मूल्यों, विश्वासो, परम्पराओ आदि का प्रयोग जनता के हित में कम और स्वयं के स्वार्थ सिद्धि की पूर्ति हेतु अधिक किया परिणामस्वरूप सामान्य जनता और नेताओं के बीच दूरिया बढ़ने लगी। भारतीय राजनीति की स्वस्थ एवं सार्थक दिशा की ओर सकेत रेणु और नागार्जुन ने अपने-अपने कथा साहित्य में अनेक बार किया है।

तात्कालिक युग-बोध .

स्वातन्त्र्योत्तर लोक परिवेश मे स्वतन्त्रता प्राप्ति ही वस्तुत वहाँ की राजनीतिक चेतना का मूल उत्स है। विभिन्न प्रकार की गतिविधियाँ इसी की प्रभाव-परिणतियाँ है। यहीं एक ऐसा गत्यात्मक सन्दर्भ बिन्दु है जिसने लोक-जीवन में राजनीतिक -चेतना को स्वर एव गति प्रदान की है। हमारे लोक-जीवन में जो द्रुतगति परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं, सब इसी की देन है। राष्ट्रीय भावधारा एवं तात्कालिक युगबोध से लोक को परिचित रखने वाला माध्यम विज्ञान है। विज्ञान की सहायता से सचार-साधनों की पहुँच अब गाँव तक हो गयी ह। आज टेलीफोन, तार, रेडियों, टेलीविजन, रेल, जहाज, अखबार आदि विभिन्न सम्पर्क - सचार उपलब्ध हे जिनकी छाया लोक पर भी पड़ रही है। रेणु के मेला आँचल का गाँव मेरीगंज तात्कालिक युग बोध से भलीभाँति सम्पन्न है। मेरीगज गाँव वाले युग की नई बातों से भी परिचित हो रहे है। पूजीपतियों के प्रति तथा जमींदारी उन्मूलन के जा अकुर शहरों मे पल्लवित हो रहे है। उनका प्रस्फुटीकरण भी गाँव मे हो चुका है। "जिस तरह सूर्य का डूबना एकदम सच है।"[1] पूँजीवाद का नाश होना भी उतना ही सच है।"1 जनता ही नही "जमींदारी प्रथा को खतम करने के लिए बिहार सरकार भी कटिबद्ध है।"[2] बावनदास तो युग-चेतना का ग्रामीण जीवन में स्पष्ट उदाहरण है जिसने तो "दो आजाद देशों की हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की ईमानदारी को, इन्सानियत को, बस दो डेग मे ही माफ"[3] कर गाँव वालों को जीवन के नये मार्ग की ओर अग्रसर किया।

---

1 रेणु. मैला आँचल, पृ0-103
2 रेणु मैला आँचल, पृ0-171
3 रेणु मैला आँचल, पृ0-298

<u>पंचायत राज</u>

लोक समाज के लिए पंचायत कोई नव्य कल्पना नहीं है। लेकिन समकालीन लोक–जीवन में जिस लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण की भावना को लेकर यह व्यवस्था आगे बढी है, उसमें लोकसभा से ग्राम सभा तक और उच्चतम न्यायालय से पचायत तक प्रजातत्र की यात्रा समाहित है। सामुदायिक विकास योजनाओं में संलग्न विभिन्न कार्यकर्त्ता लोक–जीवन में प्रजातत्र की सार्थकता का बोध कराते है। रेणु और नागार्जुन ने ग्राम पचायत की वर्तमान अवधारणा और उससे उत्पन्न स्थितियों का बड़े मनोयोग से अंकन किया है। आजादी के बाद पचायते वस्तुत मृत सामन्तवाद का अखाडा बन, टूटे हुए जमीदारो की तिकडमो में फँस गई और गाँव का विकास बाधित रहा। गाँव के पुराने सामन्त ही प्राय प्रजातांत्रिक प्रणाली के भी अगुआ रहे। इस अगुआ बनने के साधन चुनाव ने गाँव की आत्मा को बुरी तरह झकझोरा है। पारस्परिक वेमनस्य, दलबन्दी, अत्याचार, लूटपाट, मुकदमेबाजी आदि सब इसी की देन है।

रेणु की "परती परिकथा" के परानपुर गाँव मे अट्ठारह राजनीतिक पार्टियाँ है और यहाँ अट्ठारह प्रकार के प्रस्ताव रोज पास होते है। यहाँ के भूतपूर्व जमींदार का बेटा जित्तन राजनीतिक तोर पर शुद्ध–मना है। गाँव की अभावमयी जिन्दगी को उन्नत करने की उसके मन मे ललक और क्रियाशीलता दोनो है। वह गाँव की राजनीति पर हावी होना बिल्कुल नहीं चाहता बल्कि गाँव की गन्दी राजनीति उस पर हावी होना चाहती है और इसी के परिणामस्वरूप बेचारा भीड के पत्थर से अपना माथा तक फुडवा लेता है। फिर भी उसके मन में कतई रोष नहीं, क्योंकि यह कृत्य गाँव के सरल–हृदय व्यक्तियो का नहीं अपितु लुत्तो की गन्दी राजनीति का परिणाम है। लुत्तों परानपुर का लंगीबाज राजनीतिज्ञ है। उसका राजनीतिक चेहरा कांग्रेसी है, लेकिन उसकी गतिविधियो में प्रतिक्रियावादी तत्व विद्यमान है। इन तत्वो के साथ विद्वेष, स्वार्थपरता, बेईमानी आदि भी उसमें है। गुरूड़धुज झा से मिलकर मुखिया और सरपंची के उम्मीदवारों को पैसो से तोडता है। मुखियागिरी के लिए रोशनविस्वा को तिजोरी खोल पैसे देने पड़ते है तभी तो सुचित लाल मड़र आदि को मेदान से बैठाता है। किसी को साड़ी तो किसी को ईंटे इस उपलक्ष्य में प्राप्त होती है। लुत्तो अपनी बात खोलना हुआ झा से ठीक ही कहता है, "दोनों केण्डेट, समझिये कि मेरी मुट्ठी में है। मेंने लंगी लगा दी है, एक को सरपंची का लोभ दिया है

और दूसरा कुछ रूपया चाहता है।"[1] सभी को तरह-तरह के प्रलोभन दिये जाते है। किसानो में यह प्रचार होता है, मुकदमो मे पराजित जमीन प्राप्त केवल अच्छे सरपच के माध्यम से ही वापस मिल सकती है। सभी तरह के अच्छे -बुरे कार्य यहाँ हाते देखते हैं।

लोक जीवन के अभावों की परती धरती को तोड़ने मे प्रयत्नशील सरकार, नवयुवक जितेन्द्र जहाँ क्रियाशील हे वहाँ गाँव के अशिक्षित लोगों की भीड़ को निरन्तर भड़काने में लुत्तों जैसे काग्रेसी, राम निहोरा, जयदेव जेसे समाजवादी और सुचित लाल मड़र तथा मकबूल जैसे कम्युनिस्ट नेता अपने षड्यन्त्रों मे सलग्न हे ओर कोसी बाँध के खिलाफ जुलूस निकलता है जिसमें बेचारा जितेन्द्र घायल हो जाता है। ग्राम-जीवन के विकास कार्यो की यही दुर्भाग्यपूर्ण नियति है। कही जमीदार तो कहीं राजनीतिज्ञ राह के रोड़े सिद्व हो रहे हैं। ग्राम-पंचायत एक स्वायत्त शासन की नाममात्र इकाई बनकर रह गयी है।

जमींदारी उन्मूलनः कृषक-मजदूर की परिवर्तित मानसिकता

स्वतंत्रता से पूर्व गाँवो में जमींदार मनमाना शोषण कर रहे थे और आम-आदमी इनकी नृशंसताओं का शिकार थी। स्वाधीनता-प्राप्ति के तुरन्त बाद राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान गाँवों में किसान सभाओ के माध्यम से उभर रहे रोश की ओर गया और उन्होंने गाँवों के उन सामन्तो को समाप्त करने की योजना बनायी। वह योजना है- जमींदारी उन्मूलन की। कृषि और कृषकों को उन्नतिशील बनाने की ओर उठाया यह कदम वस्तुत राजनीतिक था- इसका स्वरूप और प्रक्रिया दोनो यही अहसास जगाती है। राम बिहारी सिंह तोमर का भी यही मत हे कि, "जमींदारी-उन्मूलन का मूल आधार आथ्रिक कारण नहीं राजनीतिक कारण था और वह था जमींदार और जनता के बीच सदेव से चला आया संघर्ष। उसी के परिणामस्वरूप जमींदारी उन्मूलन हुआ।"[2] रेणु और नागार्जुन ने गाँव ओर समस्याओं से जूझ रहे

---

1 फणीश्वरनाथ रेणु परती परिकथा, पृ0-330

2 राम बिहारी सिंह तोमर ग्रामीण समाजशास्त्र, पृ0-413

किसानों को देखा, उनकी जिन्दगी में अभावों के ढेर, यातनाओ के सकट को अनुभूत किया और सवेदनाओ के स्वर पर उन्हें अभिव्यक्ति दी।

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" उपन्यास मे बिहार के किसान–आन्दोलन, सभा, जुलूस, पुलिस द्वारा गिरफ्तारी, हडताल, जल आदि के विविध प्रसंगों से गाँव में आई नयी भावक्रान्ति को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। इस भाव–क्रान्ति का स्वर हमें ताराचरण की वाणी में सुनाई पड़ता है, जिसमें युगीन स्वर समाहित है जो गाँव में जमींदार के यहाँ नाटक देखने तक मनाही करता है, "जमाना बदल गया है, हम जब अंग्रेजो की नाक में कोडी बाँधते हैं तो राजा बहादुर की बिसात ? उनका दामाद हमें लिवा ले जाय, तब चलेंगे। अन्त मे हुआ यही कि दो–एक बूढों को छोड़कर और कोई नहीं गया।"[1]

नागार्जुन के "बलचनमा" उपन्यास में भी भाव क्रान्ति के कई स्थल उपस्थित होते है जहाँ कृषक, मजदूर एवं जमीदार खुलकर आमने–सामने खडे हो जाते हैं। लेकिन स्थिति ऐसी बन गयी है कि मजदूर दिनों–दिन गिरता जा रहा है। अत उसका उठना स्वाभाविक है। गाँव में राजनीतिक चेतना का ही परिणाम है कि जमींदार के खिलाफ डा0 रहमान की रहनुमाई में किसान–मजदूरों का एक सगठन बनता है। मजदूर अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रहे हैं इसका स्वर एक अन्य स्थल पर उनके नारों से अभिव्यक्त है। अब वह जमीदार की धरती नहीं मानते। क्योंकि "धरती किसकी ? जोते–बोये उसकी"। किसान की आजादी आसमान से उतरकर नहीं आयेगी। वह परगट होगी नीचे जुते धरती के भुरभुरे ढेलों को फोडकर ।"[2] जमीदारी उन्मूलन वास्तव में कृषक जिनदगी मे स्वतंत्रता की भावना के ऊपर अवलम्बित है। बालचन को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करने में फूल बाबू (गाँधीवादी नेता) का साहचर्य भी एक भूमिका निभाता है। नागार्जुन के अन्य उपन्यास "वरूण के बेटे" के मलाही गाँव में यह भावक्रांति बडे ही उग्र रूप में चित्रित हुई है। जमींदार द्वारा चुपके–चुपके गरोखर पोखर को बेचने की बात को लेकर

---

1 नागार्जुन रतिनाथ की चाची, पृ0–169

2 नागार्जुन; बलचनमा, पृ0 150–151

वहाँ का मछुआ –वर्ग मोहन माझी के नेतृत्व मे उठ खडा होता है। मछुआ संघ की स्थापना होती है ओर जमींदार एवं पुलिस में संघर्ष होता है।

फर्णीश्वरनाथ "रेणु" के "मैला आँचल" मे भी जमींदारी–उन्मूलन और तत्सम्बन्धित आक्रोश के स्वर विद्यमान है। सोशलिस्ट पार्टी का नेता कालीचरण गाँव मेरीगज मे किसान सभा आयोजित करता है। सारे गाँव के किसान लोग इकट्ठे होते है। सथाल आदि लोगो के भड़काते हुए उनमें चेतना जागता हुआ कहता है कि, जमीन किसकी ? जोतने वालों की। जो जोतेगा वह बोयेगा, वह काटेगा। कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो।" अनसुने रहते और सरकार ने वेधानिक तौर पर जमींदारी–उन्मूलन घोषित किया। लेकिन सोशलिस्ट नेताओं ने इसे भी (घोषणा को) दोषपूर्ण बताया। मेरीगंज में बैठक हुई और लोगों ने इसे पुराना कानून बताया जो व्यर्थ है। अपने दलगत स्वार्थो से बँधा कालीचरण लोगों को गलत समझाता है और भ्रमित करता है। फिर भी गाँव के आम किसानों की चेतना को उसके भाषण ने सोचने की एक नयी दिशा दी। लोगों मे यथार्थ और उसके चारो ओर घट रहे वर्तमान को जानने की जागरूकता प्रदान की।

"रेणु" की "परती परिकथा" उस धूल–धूसरित वीरान धरती पर अधिकार के विभिन्न दावो–उपदावों की कथा है, परानपुर के उस नवनिर्माण की कथा है और कथा है जमीदारी–उन्मूलन के उन प्रभावों की जिन्होने ग्रान को विभिन्न इकाईयों में बाँटकर रख दिया है। जमींदार और किसान ही एक धरती पर परस्पर विभिन्न दावेदार नहीं, एक परिवार के ही विभिन्न पारिवारिक अलग–अलग दावेदार है। जमींदारी–उन्मूलन जनित भावक्रान्ति की यह एक विसगतिपूर्ण स्थिति है। ऐसी अनेकों स्थितियाँ विविध क्षेत्रों में उपलब्ध हैं। परानपुर गाँव मुकदमेंबाजी, सामाजिक तनावों ओर सम्बद्व परिवर्तनों की जकडनों में बुरी तरह जकड़ गया है। वेमनस्य की बाढ में भी, राजनीति की चौपड़ का खेल हर ग्रामीण लुके–छिपे खेल रहा हे। धरती की राजनीति और मुकदमेंबाजी में गाँव किस तरह नष्ट हो रहा है उसका यथार्थ चित्र हे, "पाँच दीवानी मुकदमें दायर हो चुके है। एक से एक रगीले मुकदमे। परिवार का एक प्राणी दूसरे को निगलने की तेयारी कर रहा है। लडके ने अर्जी दी हे– विधा माँ परिवार को नेस्तनाबूद करने पर तुली हुई है। पारिवारिक जज साहब इंजंक्शन की कार्रवाई को मंजूर करें।

बाप ने प्रार्थना की है, वह सम्मिलित परिवार का कर्त्ता होकर अभी भी जीवित है। सम्मिलित परिवार की आमदनी के पैसे से उसके लडके ने जमीन खरीदी- सब अपने नाम से। अब एक धूर जमीन भी नहीं देना चाहता उसका बेटा। गुजारिश है---।"[1] कितना जटिल व्यग्य-चित्र है मुकदमेबाजी का। बेचारा जज सिर पटक कर मर जाय तो भी कानून फैसला नहीं कर पायेगा। सभी के कथन एक-दूसरे को काटते हैं और अपने को मजबूत करते हैं। आखिर किसको आधार मानकर निर्णय सोचा जाय। आज के गाँव की कितनी क्रूर नियति बन गयी है, यह इससे आभासित है।

सामंतीय जीवन में विघटन.

जमींदार गाँव के मालिक थे, शासक थे एवं समस्त ग्राम की सामूहिक जिन्दगी के नियन्ता थे। गाँव की जिन्दगी में अच्छे-बुरे रग भरने की तुलिका उन्हीं के हाथ में थी। अत्याचार और अनाचार उनकी दृष्टि से ही परिभाषित होते थे। जमींदारी उन्मूलन उनके एकछत्र राज्य का विघटनकारी कार्य सिद्ध हुआ। उनका समस्त जीवन विघटित हुआ। जीवन के विभिन्न अधिकार-हनन ने उनकी आन्तरिकता को झकझोर दिया। कल तक आँखे और सिर झुकाकर चलने वाले किसान जब आज अपने अधिकारों में जाग्रत होकर इन जमीदारों के समक्ष तनकर खड़े हो गये तो उनकी आन्तरिक टूटन स्वाभाविक थी। रेणु और नागार्जुन ने उनकी इस आन्तरिक टूटन का गहराई से सवेदनात्मक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है।

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" उपन्यास में जमींदार राजा साहब के सामन्तीय जीवन की टूटन का अहसास तब होता है जब बेचारे बड़ी भाग-दौड के बावजूद चुनाव के मैदान मे हार जाते है। कछुए की भाँति अपनी खोल में दुबके-दुबके ही अग्रिम भविष्य की नियोजना करते रहे और अन्त में उन्होंने अपनी आन्तरिक टूटन कांग्रेसी मत्रियों पर धमकी के रूप में व्यक्त करते हुए कहा, "आपका खादी का कुर्ता पहले हम अपने खून से तर कर देंगे, उसके बाद जाकर जमींदारी प्रथा

---

1 फर्णीश्वर नाथ "रेणु" · परती परिकथा पृ0-328

उठा दीजिएगा।"[1] इस धमकी मे फूटा हुआ रोष है, क्योंकि अन्दर से तो जमींदार भी जानते थे कि हम अन्याय के राही हैं।

रेणु के "परती परिकथा" मे श्यामगढ स्टेट के राजा कामरूप नारायण जमींदारी–उन्मूलन के पश्चात् अपनी प्रभुता गँवाने को तैयार नहीं। जमींदारी–उन्मूलन से उत्पन्न कुण्ठा ने उन्हे राजनीति मे सक्रिय भाग लेने को प्रेरित किया है। परानपुर के जितेन्द्र को भी उनकी यही सलाह है कि अपने भूतपूर्व अधिकारो को यथास्थिति में रखने के लिए उसे भी युग की हवा के साथ बदलना होगा। अपी राजगद्दी की सुरक्षा हेतु, उन्होंने एक नयी पार्टी, प्रजा पार्टी का गठन किया है। यहाँ व्यंग्य कितना गहरा है कि नाम "प्रजा पार्टी ", काम राजाओ के अधिकारों की सुरक्षा और जब हम उस पार्टी के कार्यकारी सदस्यो का परिचय पाते है तो उस व्यंग्य की गहराई और भी स्पष्ट हो जाती है। जितेन्द्र को बताते हुए कामरूप नारायण कहते हैं कि, "अपने इस्टेट के तीन सर्किल मैनेजर, पचास पटवारी और डेढ़ सौ प्यादों को लेकर मैंने प्रजा पार्टी का शिलान्यास किया। कहा, चलो! तुम्हारी नौकरियाँ अपनी जगह पर बरकरार ! जमींदारी चली गयी. राजा चला, फिर भी मैं वेतन दूँगा। ओहदा बदल गया है, काम बदल गया है। और आज देखा। कई वामपंथी पार्टियों के सधे–सधाये लोग आ गये है, वकील, मुख्तार, प्रोफेसर, छात्र, महिलाएँ। मैंने प्रान्त भर में बिखरी ऐसी शक्तियों का समवय किया है, जो सही नेतृत्व के अभाव में बुझी जा रही थी। पिछले दिनो, दो–दो वामपंथी पार्टियो ने प्रजा पार्टी के झण्डे के साथअपना अण्डा बाँधकर, विधान सभा के सामने प्रदर्शन किया है– रेन्ट फ्री लेण्ड, बगैर किसी खजाना के जमीन। दे सकी आज तक कोई पार्टी ऐसा क्रान्तिकारी नारा ? "[2] और कुछ हो न हो कामरूप नारायण की यह कुण्ठाजन्य राजनीतिक सूझ बड़ा जटिल सामंती हथकण्डा है लेकिन समय से बेखबर कामरूप नारायण को यह भी याद रखना चाहिए कि आकर्षित नाम और आकर्षित नारे गाँव को भी आज अधिक देर तक धोखा नहीं दे सकते। प्रजातांत्रिक व्यवस्था ने छोटे–बड़े सभी को राजनीतिक साझेदारी प्रदान की है। इन सब बातों के अतिरिक्त गद्यांश में एक बात ध्यातव्य है कि "रेणु" ने जिस कुशलता से राजनीतिक अवसरवादी चेहरे को बेनकाब किया है, उससे निश्चय

---

1 नागार्जुन रतिनाथ की चाची, पृ0–14

2 फणीश्वरनाथ रेणु परती परिकथा 348–349

ही उनकी व्यग्य–शक्ति के साथ उनकी राजनीतिक पहचान का परिचय मिलता है। आज ग्राम–जीवन के सामन्त टूटकर भी टूटना नही चाहते शायद इसी पर व्यंग्य करना उन्हें अभीप्सित है। सदियों से गरीब किसानों का शोषण करने वाले जमींदार आज नये राज्य से माँग करते हैं "रैन्ट फ्री होल्ड", बगैर किसी खजाना के जमीन। कैसी अद्‌भुत नियति है इन छद्‌म भरे नारो की।

दलीय प्रतिबद्वता

लोक जीवन में राजनीति की जड़े इन पिछले पच्चीस वर्षो में बहुत गहरी चली गयी है, जिसने परिवेश के रूप–रग के साथ वैचारिकता को भी आन्दोलित किया है। यह बात सत्य है कि साधारण जनता में राजनीति के सैद्वान्तिक ज्ञान की कमी है, लेकिन यह भी दूसरी तरफ एक यथार्थ सतय है कि वहाँ के एक–एक घर की सामूहिकता इस राजनीति ने व्यावहारिक स्तर पर खण्डित कर दी है। गाँव की इकाई विभिन्न राजनीतिक दलो मे बँटकर रह गयी है। गाँव का हर घर राजनीतिज्ञो का एक झंडा बनकर रह गया है। लोक–जीवन की अनुभूत्यात्मक सच्चाई यही है। दल के सिद्वान्तो, कार्यो के प्रति अटूट आस्था दलीय प्रतिबद्वता है। लोक के सन्दर्भ में इस प्रतिबद्वता के मूल मे मुख्यत. स्वार्थ और गौण रूप से विचारधारा है।

दलीय प्रतिबद्वता का संश्लिष्ट रूप हमें "रेणु" के "मैला आँचल" में भी प्राप्त है। स्वाधीनता सेनानी बालदेव आजादी के बाद वह बालदेव नहीं रहता। अब उसकी प्रतिबद्वता मे भी अन्तर आया है। मेरीगंज में उसके रहते उसका शिष्य कालीचरण सोशलिस्ट पार्टी की जडे जमा देता है। लक्ष्मी कोठारिन बालदेव के चदा माँगने के उद्‌देश्य को समझ जाती है और व्यंग्य करते हुए राजनीतिक फैलावर पर कहती है, गाँव में तो रोज नया सेन्टर खुल रहा है– मलेरिया सण्टर, काली टोपी सण्टर, लाल झंडा सण्टर और अब यह चरखा सण्टर।"[1] मेरीगंज राजनीति की तेज घटनावलियों से जागरूक है। अपने–अपने हितों की रक्षा के लिए गाँव के लोग विभिन्न दलों से विशिष्ट आशा करते हैं और उनके नारों को स्वर देते हैं। कालीचरण युगों से पीड़ित है, दलित और अपेक्षित लोगों का सोशलिस्ट नेता है। वह उनके दिलों में आग भर रहा है, उनको

---

1 फणीश्वरनाथ रेणु मेला आँचल पृ0–116

जगा रहा है ताकि ये लोग भी अपने हक के रूप मे पहचाने। गाँव में मीटिंग आयोजित होती है, उसमे लोग किसान–मजदूरों की राज–स्थापना के नारे लगाते हैं। सभा में गरम, उत्तेजक भाषण उनके कर्ण–कुहरों में पड़ता है, "यह जो लाल झंडा है, आपका झंडा है, जनता का झंडा है, अवाम का झडा है, इन्कलाब का झडा है। इसकी लाली उगते हुए आफताब की लाली है, यह खुद आफताब है। इसकी लाली, इसका लाल रंग क्या है? यह गरीबों, महरूमों, मजलूमों, मजबूरो, मजदूरो के खून में रंगा हुआ झंडा है। जमीनों पर किसानों का कब्जा होगा। चारो ओर लाल धुआँ मँडरा रहा है। उट्ठो किसानों, किसानों के सच्चे सपूतो। धरती क सच्चे मालिकों उट्ठो! कान्ति की मशाल लेकर आगे बढ़ो।"[1] गाँव का निम्न वर्ग लाल झडे के प्रति प्रतिबद्ध हो रहा है तो दूसरी ओर काली टोपी के संयोजक भी लाठी–भाला चलाने की शिक्षा दे रहे है। हरगोरी सिंह गाँव में जनसंघ की आवश्यकता समझता है ताकि उच्च वर्ग के लोगों के हित भी सुरक्षित रह सके। धर्म ओर सस्कृति उनका प्रबल नारा है। सारा मेरीगंज विभिन्न पार्टियों के सक्रिय कार्यक्रम का स्थल सा बन गया है। गाँव ने विभिन्न वर्गो के लोग जातीय आधार के साथ राजनीति के आधार पर विभक्त हो रहे हैं। नये वर्गो का उदय राजनीतिक दलीय प्रतिबद्वता का ही प्रतिफल है।

"रेणु" के "परती परिकथा" के जितेन्द्र द्वारा अनुभूत परानपुर गाँव का परिवर्तित परिवेश एक संवेदनात्मक सच्चाई है। इस दलीय प्रतिबद्वता ने ग्राम–जीवन की सस्कृति और सामूहिकता को तोड़कर रख दिया है। दीर्घकालोपरान्त शहर से आए जित्तन ने इसे ठीक ही आँका है तथा इसके मूल में वस्तुत राजनीति ही है।" गाँव समाज मे, मनुष्य के साथ मनुष्य का व्यक्तिगत सम्पर्क घनिष्ठ था। किन्तु वह अब नहीं रहा। एक आदमी के लिए उसके गाँव का दूसरा आदमी अज्ञात कुलशील छोड और कुछ नही। कहाँ है आज का कोई उपयोगी उत्सव अनुष्ठान, जहाँ आदमी एक–दूसरे से मुक्त प्राण होकर मिल सके ? मनुष्य के साथ मनुष्य के प्राण का योग–सूत्र नहीं। "[2]

जितेन्द्र का दर्द बहुत कुछ सच्चा है। गाँव मे जो आत्मीयता, सारल्य, सहजता आदि की खान थे अब वहाँ ये सब प्रवृत्तियाँ स्वप्न बन गयी है और व्यक्ति स्वार्थ और राजनीति से पराभूत हो चुका है। कुण्ठा, देन्य, गरीबी आदि बढ़

---

1 फणीश्वरनाथ रेणु: मैला आँचल पृ0–109–110

2 फणीश्वरनाथ रेणु: परती परिकथा पृ0–351

रही है, दूसरी ओर सामाजिकता घट रही है। राजनीतिक चेतना से परिचालित गाँव टूट–टूटकर फिर बन रहे हैं। जितेन्द्र (सामन्त–पुत्र) प्रगतिशीलता से प्रतिबद्ध है, जयदेव सिंह और रामनिहोरा सोशलिज्म से, मकबूल, सुचित लाल मंडर कम्युनिज्म से तथा लुत्तो मीर समसुद्दीन, रोशन विस्वाँ आदि कांग्रेस से। सबके अपने–अपने दल हैं, अपने–अपने विचार है और गाँव के जीवन को उन्ही के अनुसार बाँटत रहते है। लेखक ने गाँव का राजनीतिक परिचय देते हुए लिखा है, "बहुत उन्नत गाँव ह परानपुर। सात–आठ हजार की आबादी है। प्रत्येक राजनीतिक पार्टी की शाखा है यहाँ। धार्मिक सस्थाओ के कई धुंरधर धर्म–ध्वजी इस गाँव में विराजते हैं पिछले आम चुनाव में सॉलिड वोट कांग्रेस को नहीं मिला, इसलिए इस बार सौलिड वोट प्राप्त करने के लिए हर पार्टी की शाखा प्रत्येक मास अपनी बैठक में महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास करती है।[1]

जातीयता

राजनीतिज्ञों का झुकाव गाँवों की ओर होना स्वाभाविक है। एक तो मुख्यत गाँव के वोट ही सारे देश की राजनीति को दिशा देते है, दूसरा उन लोगों को आसानी से भ्रमित किया जा सकता है। देश की ग्रामीण जनता जो अभी तक अशिक्षा एवं अज्ञान मे फँसी है अपने मताधिकार का सही उपयोग नही जानती। राजनीतिज्ञ समय–समय पर कुछ आकर्षक नारों से उसे बहलाकर फुसलाकर उसके राजनीतिक अधिकार को ठग लेते हैं। भारतीय राजनीति में जातीयता एव साम्प्रदायिकता का जन्म हमारी नव प्राप्त स्वतंत्रता के साथ हुआ। इसका प्रत्यक्ष अपयश कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों को है। उन्होने ही इस विष बीज को बोया। अंग्रेजो की भारत को सत्ता हस्तान्तरण नीति एवं हमारे नवनिर्मित संविधान में अनुसूचित जातियो की अधिकार सुरक्षा भावना दोनो ही जातीयता पोषक तत्व है। जातीयता को विभिन्न राजनीतिक दलों ने भी आश्रय दिया है। यद्यपि हम जाति एव वर्ग–हीन समाज की बात करते है। वर्ण–व्यवस्था भारतीय समाज के लिए नई वस्तु नहीं है वह आर्थिक स्वालम्बन की दृष्टि से एक प्राचीन प्रणाली है जिसमे आधुनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य मे परिवर्तन आवश्यक थे। लेकिन राजनीति से इसका हेलमेल बिल्कुल असगत एव दुर्भाग्यपूर्ण है। साम्प्रदायिकता भी अंग्रेजो की ही देन है। हिन्दू –मुस्लिम सदियो से एक होकर यहाँ रह रहे थे। जीवन मे एकरसता

---

1 फणीश्वर नाथ "रेणु" परती परिकथा पृ0–21

थी, स्वाधीनता की लड़ाई एक होकर लडी, लेकिन अग्रेज अपनी कूटनीति में सफल हो गये। ग्राम–जीवन में जातीयता एवं साम्प्रदायिकता दोनो ही वहाँ की राजनीति के कार्यकारी अग है। अज्ञान और अशिक्षा दोनो ग्रामवासियों को इनसे ऊपर नही सोचने देते। प्रजातत्र की यह बडी अस्वस्थ परम्परा इस देश में बढ रही है, जा यदि समय रहते न समाप्त की गयी तो देश को फिर अनिष्टकारी सिद्व होगी।

रेणु के "मैला आँचल" का बावनदास ग्राम–जीवन मे आई जातिवाद की भावना का मूल उत्स बडी राजनीति का अग मानता है। उसकी बात बिल्कुल प्रामाणिक जीवन पर आधारित है। वह तो बेचारा भ्रष्टाचार के हटाने मे अपनी जान ही दे बेठा। उसने कुछ दिन पूर्व अपने सहयोगी बालदेव से सच ही कहा था, "सब चोपट हो गया   यह बेमारी ऊपर से आई है। यह पटनियाँ रोग है।   अब तो ओर घूमघाम से फेलेगा।   भूमिहार, राजपूत, कैथ, जादव, हरिजन, सब लड़ रहे है   अगले चुनाव में तिगुना मेले चुने जायेगे। किसका आदमी ज्यादे चुना जाएं, इसी की लड़ाई है। यदि रजपूत पार्टी के लोग ज्यादा आये तो सबसे बडा मन्तरी भी रजपूत होगा   परसों बात हो रही थी आश्रम मे। छोटन बाबू ओर अमीन बाबू बतिया रहे थे, गाँधी जी का भसम लेकर ससाक जी आवेंगे। छोटन बाबू बोले, जिला का कोट भसम जिला सभापति को ही लाना चाहिए।   ससाक जी क्यो ला रहे है। इसमें बहुत बड़ा रहस। हा हा हा हा ।"[1]

बावनदास की विचित्र हँसी मे एक कटु व्यग्य है हमारे देश के नेताओं पर जो भाषणों में जातिवादी, अस्पृश्यता और साम्प्रदायिकता को विष बताते हैं और रोज उसी विष से जिन्दा है। हर निर्णय, हर कदम, हर फेसले का निर्णायक तत्व यह जातिवाद होता है। देश की व्यवस्था मे जातिवाद किस प्रकार उसकी रंग–रग में समा गया है यह इस उपरोक्त कथन से द्रष्टव्य है। बड़ी से बडी और छोटी से छोटी बात में यह भी विचारणीय पहलू होता है। ससांक जी का भसम लाना इसी रहस्य को अपने में समाहित किये हुए है। हमारे राजनीतिक समाज का यही वास्तविक यथार्थ है कथनी और तो करनी और।

भारत की राजनीतिक जिन्दगी की यह एक सच्चाई है कि उसका हर दल जातीयता के प्रति सतर्क है। चाहे कांग्रेस हो या जनसंघ, कम्युनिस्ट हो या

---

1   फणीश्वरनाथ रेणु   मैला आँचल, पृ0–290

सोशलिस्ट सभी के निर्णय जाति पर होते हैं। प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील दोनों गुटों मे इस बिन्दु पर साम्य है। मैला आँचल का प्रसग साक्षी है। मेरीगंज गाँव के उत्साही नेता कालीचरण से गाँव की जाति–विषयक जानकारी प्राप्त कर पूर्णिया जिले के सोशलिस्ट नेता वासुदेव गंगा प्रसाद सिंह यादव को पार्टी के प्रचार हेतु इसलिए भेजते हे क्योंकि, "मेरीगंज मे सबसे ज्यादे यादवों की आबादी है। वहाँ आपका जाना ही ठीक होगा। वहाँ आर्गनाइज करने में कोई दिक्कत नही होगा। वही, बस बालदेव है एक। "[1] यह राजनीतिक विडम्बना नहीं तो क्या है ? जहाँ आर्गनाइजर भी जात–विरादरी के हिसाब से लगते हैं। यद्यपि पार्टी अपने को प्रगतिशील शक्तियो का पुंज कहती है। हद हे इन लोगों की कृत्रिमताओ एव बनावटी बातों की।

रेणु के "परती परिकथा" में जातिवाद और ग्राम–जीवन मे उसकी व्यापकता का सजीव अंकन किया है। परानपुर गाँव का परिचय देते हुए "रेणु" ठीक ही सूचना देते है, "पिछले आठ–दस वर्षो से जातिवाद ने काफी जोर पकड़ा है। राजनीतिक पार्टियाँ भी जातिवाद की सहायता से संगठन करना जायज समझती हैं। राजनीति के दंगल में सब–कुछ माफ है।"[2] तथा आठ वर्षो से जातिवाद के दीमकों का मुख्य आहार रहा है मनुष्य का हृदय।"[3] यही नहीं "जो जात की बात करेगी जात उसको काटेगी,"[4] से पता चलता है कि जातीयता अपने पूरे जोर पर है। इस प्रकार ग्राम–जीवन के समग्र ढाँचे में जातीयता की भावना उत्पन्न हो गयी है, जो सब राजनीति और राजनीतिज्ञो के क्रियाकलापो का ही प्रतिफल है।

<u>चुनाव एवं लोक जीवन मूल्य</u>

लोक जीवन की राजनीतिक मानसिकता एव उसकी मूल्यवत्ता को विशेष रूप से आन्दोलित करने वाला एक गतिशील तत्व चुनाव है। चुनाव ही वह माध्यम है जिसके सहारे लोक–समुदाय ने देश की राजनीतिक साझेदारी में,

---

1 फणीश्वरनाथ रेणु· मैला आँचल, पृ0–89
2 "रेणु" परती परिकथा, पृ0 21–22
3 "रेणु" · परती परिकथा, पृ0 28
4 "रेणु" 3 परती परिकथा, पृ0 136

अपने प्राचीन मूल्यो, विश्वासों एवं परम्पराओ का अर्जित धन गँवाया है। आज देश में "राजनीतिक कुचक्र इस सीमा तक भयावह हो गया है कि देश के जीवन से सिद्वान्त और आदर्शो का लोप हो गया है। राजनीतिक दल–बदल, रोज सरकारों का बनना ओर गिरना, मुख्यमंत्री से लेकर क्लर्क और चपरासी तक मची हुई लूटपाट, नोच–खसोट एक विचित्र–सी आपा–धापी में आज मनुष्य बुरी तरह कुचला जा रहा है।"[1]

"परती परिकथा" के परानपुर का उत्साही जित्तन लुत्तों के नेतृत्व वाले जुलूस से कपाल पर रोड़ा खाता है, खुन पोछकर भी भीड के समक्ष अखबार पढ़कर सुनाता है, जनता को वास्तविकता का परिचय दता है। समाजवादी लुत्तो की राजनीतिक चाल का भडाफोड करता है। सीधी सरल जनता को बताता है कि किस तरह लोग तथ्यों को छिपाकर भावनाओं से खेलते है। वस्तुत राजनीति स जीवन–मूल्य उठ गये हें, जैसे–तैसे स्वार्थसिद्धि ही एकमात्र हर राजनीतिज्ञ का उद्देश्य रह गया है। यथार्थ का साक्षात्कार करते हुए वह कहता है," मुझे ऐसा भी लगता है कि जान–बूझकर ही आपको अन्धकार में रखा जाता है। क्योंकि आपकी दिलचस्पी से उन्हें खतरा है। इन कामो से आपका लगाव होते ही नोकरशाही की मनमानी नहीं चलेगी। एक कप चाय पीने के लिए तीन गैलन तेल जलाकर वे शहर नही जा सकेगे। सीमेण्ट की चोर बाजारी नहीं कर सकेंगे। एक दिन में होने वाले काम मे एक महीने की देरी नही लगा सकेंगे। नदियों पर बिना पुल बनाये ही कागज पर पुल बनाकर बाद में बाढ से पुल के बह जाने की रिपोर्ट वे नहीं दे सकेंगे।"[2]

इस छोटे से कथन में राजनीतिज्ञों के कुकृत्यों को सप्रमाण एवं ऐन वक्त पर उजागर कर लेखकीय प्रगतिशीलता के प्रति प्रतिबद्धता स्पष्ट है। उसके लिए सभी नेता एक समान है। भ्रष्टाचार का एक उदाहरण है– सोशलिस्ट पार्टी के आफिस सेक्रेटरी रामनिहोरा दास पुरानी रसीद –बही पर चुपचाप चन्दा वसूल करते और खाते हैं। इसका भेद तब खुलता है जब सिरचन बढ़ई जयदेवसिह पार्टी इंचार्ज को रिपोर्ट करता हुआ करता है, "बावन रूपये का हे पलग, बाबू साहब। पलंग बनवाकर ले गये रामनिहोरा बाबू। एक महीना दोड़ाने के बाद, दाम के नाम पर एक डिवलूकट रसीद काटकर दीहिन है। रसीद लेकर हम क्या करे।"[3] यह स्वार्थपरता भ्रष्टाचारी प्रवृत्ति हर दल में हर स्तर पर पनप रही है। नैतिक मूल्य टूट रहे है।

---

1 सुरेश सिन्हा हिन्दी उपन्यास पृ0–143
2 फणीश्वरनाथ रेणु परती परिकथा, पृ0–378
3 फणीश्वरनाथ रेणु परती परिकथा, पृ0–59

"जुलूस" में एम0एल0ए0 छोटन बाबू झूठ बोलने को अपनी नियति ही बताते है– "मैं क्या करूँ ? एक अनार सो बीमार !। अकेला एक एम0एल0ए0 सारे इलाके के अभावों की पूर्ति कैसे करवा दे सकता है ? ओर चूँकि चुनाव में बार–बार जीतना है, इसलिए किसी को निराश भी नहीं करना है। एक झूठ को दूसरे झूठ से, दूसरे को तीसरे से, तीसरे को चोथे से ढँकने–ढँकते मूल झूठ की जड़ मजबूत हो जाती है।"[1] इस तरह झूठ, धोखा, बेईमानी, पक्षपात और भ्रष्टाचार ही आज के राजनीतिक जीवन की मजबूरियाँ है जिन्हे शहरों में तो ढोना पड़ता ही है। गाँव में भी ढोना पडता है जो आम आदमी की आशा–आकाक्षा की पूर्ति में बाधक है।

नागार्जुन को साधारण जनता की राजनीतिक जागरूकता की अच्छी पहचान है। नागार्जुन कृत "बलचनमा" उपन्यास के अभागे बलचनमा ने जिसके माँ ओर बाप उसे धरती पर पटक स्वर्ग सिधार गये थे, जमीदारो के हाथों अनन्य क्रूर यातनाए सही। उसने भी एक स्वप्न देखा था, उसने भी अपनी कल्पनाओं में आजादी का सुख अनुभव किया था, जिसका विवरण हमें उसके कथन मे ही प्राप्य है, "मैंने सोचा मुलुक से अंग्रेज बहादुर चला जायेगा, फिर यही बाबू–भेया लोग अफ्सर बनेंगे और तब बाबा जी महाराज का भी उद्वार हो जायेगा इसके हाड़ो पर माँस चढ़ेगा, चेहरे पर चिकनाई आवेगी। बूढ़ा सूगा हो जाने पर पढ गुन तो यह क्या सकेगा मगर बाकी आराम–सुमिस्ता इस रसोइये को भी मिलेगा। सोराज मिलने पर क्या होगा? यह बात मैंने एक बार पटना मे मोहन बाबू से पूछा था। उन्होने क्या जवाब दिया था भेय्या, क्या बताऊँ ? मोहन बाबू ने यही कहा था कि सोराज होने पर सबके दिन लौटेंगे, सबका भाग्य चमकेगा। हमारा भी तुम्हारा भी।"[2] बलचनमा के इस कथन में गाँव के आम–आदमी की आशा आकांक्षा का मूक चित्र विद्यमान है।

नागार्जुन कृत "वरूण के बेटे" उपन्यास का पात्र मोहन माँझी, जो पहले तो प्रजा समाजवादी पार्टी का सदस्य था, बाद मे कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित किसान सभा का थाना सभापति चुना गया। मलाहीं गाँव के इस प्रगतिशील युवक ने भी स्वाधीनता की लड़ाई में अपना जोहर दिखाया था और उस जोहर के समय अपनी

---

1 फणीश्वर नाथ रेणु जुलूस, पृ0–118
2 नागार्जुन बलचनमा पृ0–70

उन्नति का, अपने गाँव का ओर अपनी पोखर का एक काल्पनिक साँचा तेयार किया था जो इस प्रकार है, "गढ़पोखर का जीर्णोद्वार होगा आगे चलकर और तब मलाही-गोढियारी के ये ग्रामाचल मछली पालन-व्यवस्था का आधुनिकतम केन्द्र हो जायेंगे। वेज्ञानिक प्रणाली से यहाँ मछलियाँ पाली जायेंगी। विशाल जलाशय की इन कछारों में हम किस्म-किस्म के कमलों और कुमुदनियो की खोती करेगे। पक्की ऊँची भिण्डो पर इक्तल्ला सेनिटोरियम बनेगा, फिर दूर पास के दिक्षामार्थी आ-आकर यहाँ छुट्टियाँ मनाया करेंगे।"[1] राजनीतिक स्वतंत्रता के इस निर्भीक सिपाही मोहन मांझी ने अपने सनन्त गाँव की आर्थिक समृद्वि को भी ठीक ही सोचा था, क्योंकि समृद्वि की नीव पर ही सच्ची आजादी की दिवारे खड़ी रह सकती है।

रेणु साधारण जनता की राजनीतिक जागरूकता को अच्छी तरह पहचानते हैं। रेणु के "मेला आँचल" मे डा0 प्रशान्त ने मेरीगज गाँव के समग्र विकास की कल्पना की थी। यहाँ की मिट्टी में बिखरे, लाखों-लाख इंसानो की जिन्दगी के सुनहरे सपनों को बटोरकर, अधूरे-अरमानो को बटोरकर, यहाँ के प्राणी के जीवकोष में भर देने की कल्पना मेंने की थी। मेंने कल्पना की थी हजारो स्वस्थ इंसान हिमालय की कदराओ में त्रिवेणी के संगम पर, अरूण, तिमुर और सुणकोशी के सगम पर एक विशाल डेम बनाने के लिए पर्वत तोड़ परिश्रम कर रहे है। लाखो एकड बंध्या धरती, कोशी- कवलित मरी हुई मिट्टी शस्य-श्यामला हो उठेगी। कफन जेसे सफेद बालू-भरे मेंदान में धानी रग की जिदंगी के बेल लग जायेंगे।"[2]

रेणु के "परती परिकथा" के जितेन्द्र ने भी परती धरती को शस्य-श्यामला धरती के रूप में परिवर्तित होने की कल्पना की थी। "परानपुर की परती पर इसी साल जूट, धान, दलहन, तिलहन, मकई, ज्वार आदि की उपज होगी परती पर सात-आठ हजार एकड जमीन अगले वर्षो में तैयार हो जायेगी।"[3] जितेन्द्र की इस कल्पना मे आम-आदमी की आकांक्षा का मूक चित्र विद्यमान है।

---

1 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0-26
2 फणीश्वरनाथ रेणु. मेला आँचल, पृ0-175
3 फणीश्वरनाथ रेणु परती परिकथा पृ0-377

विद्रोह वृत्ति–समाजवादी जनचेतना का उदय

सामान्य जनता की आशा–आकाक्षा की पूर्ति में भौतिकवादी दृष्टि, नगरीकरण की बढती गति, शिक्षा, नवीन शासन पद्धति के साथ–साथ विभिन्न दलों की स्वार्थवादिता आदि बाधक है। सामान्य जनता भी निर्णय नहीं कर पाती कि अनेक राजनीतिक पार्टियो और नेताओं में से कौन उनका वास्तविक शुभचिंतक और पथ–प्रदर्शक है। "सभी राजनीतिक दल सुन्दर–सुन्दर वादे करते है किन्तु फल समान ही होता है आन्दोलनों के समय जो लोग धन अर्जन करते है, स्वतन्त्रता मिलने पर वही उसके बडे दावेदार बनकर सामने आए है और सामान्य जनता तथा वास्तविक कार्यकर्ता बहुत पीछे छोड़ दिये जाते है।[1] जब आम–आदमी के आशा–आकांक्षा की पूर्ति नहीं हो पाती है तब आशा–आकाक्षा की पूर्ति में बाधक तत्वो के प्रति उसके अन्दर विद्रोह का उदय होता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा वयस्क मताधिकार ने गाँव के आम –आदमी के अन्तर्गत अधिकार–बोध का ज्ञान कराया है। हर आदमी अपनी महत्ता समझने लगा है। अत जब उसके अहम् पर चोट होती है तो वह तिलमिला उठता है और विद्रोह पर उतारू हो जाता है। अधिकार–हनन विद्रोह वृत्ति का कारण है। यह अधिकार–हनन सामाजिक भी हो सकता है, राजनीतिक और आर्थिक भी हो सकता है और धार्मिक भी। लोक–जीवन के राजनीतिक परिवेश मे इस विद्रोह वृत्ति को सामाजिक जन–चेतना के उदय, खेतिहर मजदूर और उनके पारिश्रमिक तथा मध्य और निम्न वर्ग के बीच पनपते संघर्ष के माध्यम से पहचानने का प्रयत्न किया है। इस विद्रोह वृत्ति की आत्मा मूलत. राजनीति में ही बसती है। गाँवों का दलित वर्ग समाजवादी चेतना के लक्ष्य और कार्य को समझने लगा है। प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली इस चेतना का मूल स्रोत है। देश के संविधा में समस्त जनता के लिए बिना किसी भेदभाव के सभी मार्ग खुले है। अपने विकास हेतु वे सर्वथा मुक्त है। देश के वामपथी राजनीतिक दलो ने देश के गाँवो मे इस चेतना को विकसित करने का कार्य किया है।

नागार्जुन के उपन्यास "बलचनमा" मे हमे समाजवादी चेतना के दर्शन उसके पात्र बलचनमा में दृष्टिगत होते है। अभावो की गोद में पला बालचन कांग्रेसी फूल बाबू के संसर्ग मे काफी रहता है। जमीदारों की कठोर यातनाए उसने भोगी है। माँ–बाप का सुख तो उसके भाग्य मे ही नहीं था। आजादी के विषय में सोचता हुआ बलचनमा

---

1 माखन लाल शर्मा . हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त, पृ0-218

इन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेत कर जगाने का श्रेय मोहन माँझी को ही जाता है। उसने किसान प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन बुलाया। पचास गाँवों के किसान और खेतिहर मजदूरो ने उसमे भाग लिया। उसमें तकावी-वसूली को पाँच साल के लिए स्थगित करने की माँग की गयी तथा दूसरे प्रस्ताव मे गढ पोखर के तथाकथित मालिको को और भावी सतधरा के जमीदारो को आगाह करते हुए कहा गया कि "वे युग की आवाज को अनसुनी न करे। गलाही गोढ़िहारी के मछुओं को गरोखर से मछलियाँ निकालने क पुश्तैनी हकों से वचित करने की उनकी कोई भी साजिश कामयाव नहीं होगी। रोजी-रोटी के अपने साधनो की रक्षा के लिए संघर्ष करने वाले मछुए असहाय नहीं है, उन्हे आम किसानों और खेत-मजदूरों का सक्रिय समर्थन प्राप्त होगा।"[1] ये युग की आवाज जन-चेतना की आवाज है। सामन्तवादिता का युग अब लद चुका। जमीदारों के अत्याचारों एवं अनाचारों की अब आखिरी साँस है। लोग सघर्ष के लिए कटिबद्ध है। गाँव का दलित वर्ग उठ रहा है। नागार्जुन के नयी पौध उपन्यास मे भी यह समाजवादी चेतना परिव्याप्त है किसान और मजदूरों के चेतना-- प्रधान नारे वहाँ भी खूब सुनाई देते है।

"रेणु" के "मैला आँचल" का कालीचरण और "परती परिकथा" का लुत्तो मेरीगंज और परानपुर गाँव में समाजवादी चेतना के स्रोत हैं। कालीचरण के अपने तौर-तरीके है तो लुत्तों के अपने। परानपुर में जितेन्द्र के खिलाफ आग भडकाने में वह झूठे और सच्चे सभी हथकण्डे अपनाता है तथा अन्य दलो के साथ साठ गाँठ करता है। लुत्तो के निर्देशन मे समस्त पार्टियों का संयुक्त जुलूस निकलता है। जन-चेतना का उभरता ध्वनि-चित्र कुशल शिल्पी "रेणु" ने बड़ी ही गहराई से अकित किया है। "जुलूस के आगे-आगे करीब तीस-चालीस लठेत मांज रहे हैं। मुहर्रम का ताजिया निकला है, मानो। शससुद्दीन के गाँव वाले नारा लगाने के बदले अली-अली कर रहे है। बाल गोविन मोची, चमार टोली के सभी ढोल बजाने वालों को हुक्म देता है- बाजा बन्द नहीं हो। ठाकुर बाडी के पण्डित सरबजीत कहते हे - बीच-बीच में गो-ध्वनि भी कीजिए-बाँ-आँ-आँ । चर-र-र-र-र-रे ढिन्नर, डिग-डिग-डिग ढि-ढिन्नर। अली-अली । रछ करो। कोसी केम्प तोड़ दो। गाँव हमारा छोड़ दो। दुलारी दाय बा-आँ-आँ !! डि-डि चट डि-डि-चट । अजी हेवलदार क्या करेगा अकेला? ओने ना रां सुनक्र भागेगां दुम दबाकर ए। कांग्रेस का झंडा आगे रखो ।"[2] गाँव में राजनीतिक चेतना को उभारता

---

1 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0-91

2 फणीश्वरनाथ रेणु परती परिकथा, पृ0-376

हुआ यह विम्ब वहाँ की जनवादी शक्तियों की जागरूकता को अभिव्यक्त करता है, साथ ही गाँव में किस प्रकार सत्य से गुमराह किया जाता है, इस बात को भी अंकित करता है। लुत्तो अपने वेयक्तिक दुराग्रहों को सावर्जनिक बनाकर गाँव मे उत्तेजना की आग भड़का देता है और बहाना बनाता है जमींदारो औरउनके कुकृत्यो का। कुछ भी हो गाँव में समाजवादी जनचेतना का उदय हो रहा है।

"रेणु" के "मेला आँचल" में समाजवादी दल की विचारधारा एव उसकी गतिविधियो का सर्वाधिक चित्रण मिलता है। मेरीगज ग्राम मे समाजवादी दल की सभा में कामरेड सैनिक जी भाषण देते हुए कहते हैं– "यह जो लाल झड़ा है, आपका झड़ा हे, जनता की झंड़ा है, आवाम का झंडा है, इन्क्लाब का झंडा हे, इसकी लाली उगते हुए आफताब की लाली है, यह खुद आफताब है। उसकी लाली, इसका लाल रग क्या है ?

रंग नहीं। यह गरीबो, महरूमों, मजबूरो, मजदूरों के खून में रंगा हुआ झंड़ा है।"[1] सैनिक जी जनता को प्रगति के पथ पर बढने के लिए संदेश देते है " जिस तरह सूरज का डूबना एक महान सच है, पूँजीवाद का नाश होना भी उतना ही सच है। मिलो की चिमनियाँ आग उगलेगी और उन पर मजदूरो का कब्जा होगा। जमीन पर किसानों का कब्जा होगा। चारों ओर लाल धुँआ गहरा रहा है। उट्ठो किसानों के सच्चे सपूतो ! धरती के सच्चे मालिक उठ्ठो। क्रान्ति का मशल लेकर आगे बढ़ो।"[2] किसान और मजदूरों मे समाजवादी चेतना के स्वर को ऊँचा करने का श्रेय कालीचरण के व्यक्तित्व को हे जो कि एक समाजवादी नेता हे। युगो से पीड़ित, दलित और उपेक्षित इन लोगो को एक राहत मिलती है जब वे सुनते हैं कि, "मैं आप लोगो के दिल मे आग लगाना चाहता हूँ। सोये हुओं को जगाना चाहत हूँ। आप अपने हकों को पहचाने! आप भी आदमी हैं, आपको आदमी का सभी हक मिलना चाहिए।"[3] कालीचरण गाँव मे इकलाब का स्वर फूँकता है। सभा मे आयोजित करता है। समस्त मेरीगज, "किसान राज कायम हो," मजदूर कायम हो" आदि के नारो से गूँज उठता है।

---

1 फणीश्वरनाथ रेणु · मेला आँचल पृ0 102–103

2 फणीश्वरनाथ रेणु मेला आँचल पृ0–103

3 फणीश्वरनाथ रेणु मेला आँचल पृ0–148

किसानों के सच्चे सपूत, धरती के बेटे उठ खड़े हाते है और उसी का परिणाम है कि "सस्थाल लोग तहसीलदार विश्वनाथ परसाद के चालीस बीघा वाले बीहान के खेत मे बीहान लूट रहे हैं।"[1] उनके हाथों मे तीर कमान और भाले है, उनके मन में विद्रोह की आँधी है और मस्तिष्क मे शोषण का प्रतिकार। मेरीगंज के उठते हुए तूफान को दृष्टिगत करके यह अनुमान स्वाभाविक है कि ये लोग जाग रहे है।

*****

---

1 फणीश्वरनाथ रेणु मेला आँचल, पृ0-191

पंचम अध्याय

रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में लोक चेतना का सामाजिक आयाम

1 जीवन–मूल्य सक्रमण

2 नैतिकता के बदलते आयाम

3 सम्बन्धो मे तनाव और विघटन

(1) वैयक्तिक सम्बन्ध आदर्श और यथार्थ का द्वन्द्व

(2) पारिवारिक सम्बन्ध

1 पति–पत्नी सम्बन्ध

2 माता–पिता और संतान

3 अन्य सम्बन्ध

4 संयुक्त परिवार विघटन

5 योन चेतना

1 छोटी आयु में योन चेतना

2 छोटी–बड़ी जातियों के पारस्परिक योन सम्बन्ध

6 विवाह और नारी

1 विधवा विवाह

2 अनमेल विवाह

3 अन्तर्जातीय विवाह

7 वर्ग–चेतना

*****

पंचम अध्याय

रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में लोक चेतना का सामाजिक आयाम

जीवन मूल्य संक्रमण

लोक परिवेश के विभिन्न वर्गो की सामाजिक रीतियों, अभिवृत्तियो एवं मूल्यों मे विषम ढंग से परिवर्तन हो रहे है और सामाजिक जीवन का हर पक्ष इस संक्रमण मे फँसा हुआ है तथा ये सभी पक्ष परस्पर सम्बद्ध है। साामाजिक जीवन के इस परम्परानुमोदित ढाँचे मे यह सक्रमण आधुनिक बोध का प्रतिफल है।" सबसे पहले आधुनिकता बोध के धर्म निरपेक्षता, विवेक सम्मत, वेज्ञानिक और औद्योगिक मार्ग के अर्थ में– भारत में अंग्रेजी शासन–काल में पश्चिम स आई थी।"[1] उसी का परिवर्द्धित एवं संशोधित रूप आज के बदले सन्दर्भो में नयी मूल्यवन्ता है जो उत्तरोत्तर गतिशीलता प्राप्त कर रही है। मूल्यो का मूल्यों से पारस्परिक सघर्ष इस नवीन दृष्टि का द्योतक है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र परस्पर विरोधी मूल्य एक–दूसरे से टकरा–टकरा कर टूट रहे हैं और कहीं तोड रहे है।

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। मानव–जीवन और मूल्य दोनों ही इसकी प्रभाव–व्याप्ति के क्षेत्र है। मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों उनके क्रियाकलापो, उनके सोचने–विचारने के तौर–तरीको, उनकी मान्यताओं एवं विश्वासो एवं उनकी रीति–नीतियों आदि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जीवन की एक विशिष्ट प्रणाली से होता है। जिससे उनके व्यवहार नियन्त्रित एवं नियमित होते है। यह जीवन–प्रणाली कुछ विशिष्ट सिद्वान्तो पर आधारित होती है, जिन्हे जीवन–मूल्य कहते हैं। जीवन की भाँति मूल्य भी सक्रमणकाल में निरन्तर संक्रमित होते रहते है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मे लोक चेतना के विविध मूल्यों को उनके समकालीन सन्दर्भो मे प्रमाणिक अभिव्यक्ति दी गयी है।

रेणु के "मैला आँचल" और "परती परिकथा" के अन्तर्गत सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे आये परिवर्तनो ने लोक–जीवन की मूल्यवत्ता को हिलाकर रख दिया है। "मैला आँचल" के बालदेव जेसे नेता भी नेतिक मूल्यों से हाथ गँवा बेठते है। "परती परिकथा" के लुत्तो की तो बात ही क्या है। ईर्ष्या व द्वेष का साक्षत रूप है। गाँव में सामाजिकता दिन–प्रतिदिन टूट रही है। जितेन्द्र ठीक ही कहता है" गाँव समाज में, मनुष्य के साथ मनुष्य का सम्पर्क घनिष्ठ था। किन्तु अब नही रहा। एक आदमी के लिए उसके

---

1 बीट्रिस पिटनी लेम्ब भारत एक बदलती दुनिया, पृ0–5
उद्धृत कर्त्ता डा0 ज्ञानचन्द गुप्त स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ0–89

गाँव, का दूसरा आदमी अज्ञात कुलशील छोड़ और कुछ नहीं। कहाँ है आज का कोई उपयोगी उत्सव– अनुष्ठान, जहाँ आदमी एक–दूसरे से मुक्त प्राण होकर मिल सके? मनुष्य के साथ मनुष्य के प्राण का योग सूत्र नहीं।"[1] दूसरे रूप में शहरी मूल्य गाँव मे प्रविष्ट हो रहे है। गाँव समाज में रहकर भी व्यक्ति अकेलापन अनुभव करता है। नैतिकता टूट रही है। ईमानदारी और सत्य के बदले बेईमानी और झूँठ गाँव में प्रवेश कर रहा है। सन्त्रास, कुठायें, घुटन धीरे–धीरे लोक परिवेश का सामाजिक अंग बन रही है। भौतिकता जीवन की सामूहिकता को तोड़ गाँव को एव सयुक्त परिवारो को विघटित कर रही है। जीवन की सामाजिक इकाई का व्यक्तित्व खण्डित हो रहा है।

नागार्जुन के "दुखमोचन" में टमका–कोइली गाँव की अधिकांश जनता विधवा माया और कपिल के विवाह का समर्थन करती है। "उनकी राय में यह ठीक ही हुआ था विधवा लडकी ने रंडुआ लड़के से सम्बन्ध कर लिया तो क्या बुरा किया ? इधर–उधर भटकती और भरस्ट होती तो गाँव–कुल का नाम डुबाती वह अच्छा होता कि यह अच्छा हुआ ? दस पाँच दकियानूसों को छोडकर बाकी लोगों का ऐसा ही विचार था।"[2] व्यक्ति के अन्तर्मन में पुराने और नवीन मूल्यो के बीच होने वाले संघर्ष का सजीव एवं मार्मिक अंकन नागार्जुन ने किया है।" प्राचीन सस्कारों में पली हुई माँ एक ओर थी, दूसरी ओर थी लडकी के जीवन को सुखमय देखने की लालसा में असवर्ण विवाह तथा पुनर्विवाह का प्रस्ताव कबूल करने वाली माँ एक ही बुढ़िया के अन्दर दो माताएँ थी । दोनों में डटकर सघर्ष हुआ और आखिर मे यह दूसरी माँ ही जीत गयी थी।"[3] अध विश्वास से ग्रामीण जनता को मुक्त करने के लिए दुखमोचन निरन्तर प्रयास करता रहता है और अन्त मे उसे सफलता प्राप्त होती है। अग्निकाण्ड में टेकनाथ का बैल झुलस कर मर गया। उसे "घर जलने का उतना अफसोस नहीं है, जितना इस बात का बैल की हत्या का यह कलंक कैसे छूटेगा ? कैसे ऽ ऽ ऽ "[4] "दुखमोचन की आत्मा बराबर यही कहती रहती थी कि बैल जब अपने–आप झुलसकर ढेर हो गया तो इसमें टेकनाथ का क्या कसूर था। लेकिन सामाजिक समाधान के लिए यह आवश्यक था

---

1 रेणु – परती परिकथा, पृ0–351
2 नागार्जुन दुखमोचन पृ0–86
3 नागार्जुन : दुखमोचन, पृ0–86
4 नागार्जुन : दुखमोचन, पृ0–117

कि समूचा गाँव टेकनाथ को निर्दोष मान ले।"[1] टेकनाथ ने सत्यनारायण भगवान की पूजा की और लोगों को अपने हाथ से पान-प्रसाद दिये। सबसे वहीं बैठकर उसे ग्रहण किया। ललित पण्डित की मोजूदगी का हाल मालूम करके नित्या बाबू और त्रिजुगी चोधरी जेसे पुराने लोग भी आ गये थे।"[2] इस प्रकार सभी व्यक्तियों ने टेकनाथ को निर्दोष मान लिया।

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" मे भी ग्राम -जीवन और उसके सामाजिक मूल्यों के परिवर्तनशील स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है।" अब जमाना बहुत बदल गया है। कुलीनता ही काफी नहीं थी उमानाथ दरिद्र था। उसकी शादी की बात इतनी चटपट जो तय हुईइसकाश्रेय ट्राम कम्पनी की नोकरी को था। उमानाथ आजकल चालीस पा रहा था।"[3] नागार्जुन के "इमरतियाँ" में इमरतिया अपनी गुलामी की तुलना भिखारिन से करती हुई सोचती है कि- "इस औरत में और मुझमे क्या फर्क है ? में भी दूसरों का दिया हुआ खाती हूँ। वह भी दूसरो का दिया हुआ खाती है। इसे रोज-रोज भीख माँगनी पडती है में लम्बे अरसे के लिए पालतू बना ली गयी हूँ चाहूँ तो हमेशा के लिए इसी तरह का जीवन गुजार सकती हूँ। फिर भी लगता हे इस भिखारिन मे और मुझमें कोई खास अन्तर नही है।"[4]

/ग्राम-जीवन के सामाजिक मूल्यो के अवमूल्यन का ही कार्य-परिणाम हे कि आज वहाँ की केन्द्रीय सामूहिकता- विखण्डन मे, पाररपरिक प्रेम-सोहार्द- ईर्ष्या-वेमनस्य मे शान्ति-अशान्ति में, परम्राए नवीन मूल्यो में परिवर्तित हुई हे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति ने विचार और चिन्तन के नये आयामों का उद्घाटन किया हे। वेचारिकता के इन नये प्रतिमानों एव सामाजिक परिवर्तनों ने कुण्ठा, घुटन, टूटन, संत्रास, हिंसा, घृणा, संकट बोध, आत्म विश्वासहीनता आदि का भी ग्राम धरा में बीजारोपण किया है। तदनुरूप गाँव में भी "परम्परागत समाज-व्यवस्था के मूल्य निरर्थक

---

1 नागार्जुन दुखमोचन, पृ0-142
2 नागार्जुन . दुखमोचन, पृ0-146
3 नागार्जुन रतिनाथ की चाची पृ0-145
4 नागार्जुन इमरतियाँ पृ0-6

प्रतीक होने लगे है। अत अब व्यक्ति परम्परागत मूल्यो के स्थान पर नवीन मूल्यों को आत्मसात् करने लगा है। इस नवमूल्य–परिग्रहण की प्रक्रिया मे व्यक्ति के लिए संघर्ष एक आवश्यकता बन गया है। वस्तुत यह समाज से नही वरन् मूल्यों का परम्परागत मूल्यों से सघर्ष है। इस मूल्य–संघर्ष में युगानुकूल मूल्य व्यक्ति का पूर्ण समर्थन पाकर स्थान बनाते जा रहे है।"[1] ग्रामीण परिवेश की यह संघर्षशील स्थिति मूल्य बोध ओर वहाँ की परिवर्तित मानसिकता की द्योतक है।

नैतिकता के बदलते आयाम

परम्पराओं के विरोध एवं मूल्यों के अवमूल्यन से ग्राम–गधी परिवेश में नैतिकता की नयी स्थितियो ने जन्म लिया है। इन नैतिक स्थितियो का अवलोकन रेणु ओर नागार्जुन के कथा–साहित्य मे बड़ा ही जीवन्त बन पड़ा है। रेणु के "मैला आँचल" के मेरीगंज गाँव में माँ–बाप अपनी बेटी के अनैतिक सम्बन्धों ओर कृत्यों को जानते हुए भी मोन हैं। रमजूदास की पत्नी को यह बात अच्छी नहीं लगती। फुलिया ओर खलासी जी की हर बात का उसे पता है। खुद फुलिया ही वास्तव मे उससे कहती है कि कल–कलाँ को कुछ हो गया तो चमारिन की भी खुशामदे करनी पड़ेगी। लेकिन माँ–बाप है कि आर्थिक मजबूरियो मे इस तरह फँसे है कि उन्हे यह गलीच यथार्थ भी स्वीकार्य है। रमजूदास की पत्नी तो फूलिया की माँ को यहाँ तक कहती है कि, "तुम लोगों को न तो लाज है ओर न शरम। कब तक बेटी की कमाई पर लाल किनारी वाली साड़ी चमकाओगी ? आखिर एक हद होती है किसी बात की। मानती हूँ कि जवान बेवा–बेटी दुधार गाय के बराबर है। मगर इतना मत दूहो कि देह का खून भी सूख जाय।"[2] इस कथन में जहाँ नारी सुलभ उलाहना है वहाँ एक वास्तविकता भी हे, जो न चाहते हुए भी स्वीकार्य है। अपने अनैतिक व्यवहार के कारण सहदेव मिसिर को भी मेरीगंज के तन्त्रिया लोगों के यहाँ रात–भर बँधकर रहना पडा। वहाँ का मठ तो अनैतिकता का अड्डा ही बनकर रह गया है ओर मठ की कोठारिन लक्ष्मी पर एक नही तीन–तीन

---

1 डा0 ज्ञानचन्द गुप्त स्वतन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास ओर ग्राम चेतना, पृ0–94

2 रेणु मैला आँचल पृ0–59

महंत अपनी महती का अधिकार जताते हैं। मठ के पुराने महंत के बाद नये महंत साहब रात को चुपचाप अंधेरे में, बड़ी तरकीब से अन्दर की चटखनी खोल जब लक्ष्मी के पास अपनी प्यास बुझाने को प्रस्तुत होते हैं तो चॅटि खाते हैं और धक्कों से गिर जाते हैं। उसके खीझ भरे वाक्य में उसकी अनैतिकता स्पष्ट है "कैसी गुरू माई। तुम मठ की दासिन हो। महंथ के मरने के बाद नये महथ की दासी बनकर तुम्हें रहना होगा। तू मेरी दासिन है।"[1] गाँव की वर्तमान सामाजिक जिन्दगी मे नैतिकता की तसवीर बहुत कुछ मटमैली हो गयी है जिसका प्रमाण है– नोखे की स्त्री का रामलगन सिंह के बेटे से, उचितदास की बेटी का कोयरी टोली के सरन महतो से, तहसीदार हरगौरी सिह का अपनी मौसेरी बहन से, बालदेव जी का लक्ष्मी कोठारिन से और नेता कालीचरन का चर्खा स्कूल की मास्टरनी से अवैध यौन सम्बन्धों का निर्वाह। "मैला आँचल" गाँव की विभिन्न अनैतिकताओं को रूपायित करने मे अपने नाम की सार्थकता स्पष्ट करता है।

नागार्जुन के "उग्रतारा" में उगनी का अभिमत है कि, "देहात में रहना हो तो गुडा बनो कामेश्वर, गुण्डों से दोस्ती करो, उन्हे खिलाओं–पिलाओं। तुम उनका काम करो, वे भी तुम्हारा काम करेगे ।"[2] गाँव की यही अनैतिकता, आज के परिवर्तित सन्दर्भो की वास्तविकता है।

सम्बन्धों में तनाव और विघटन

स्वतन्त्रता परवर्ती लोक परिवेश मे व्यक्ति और परिवार तथा परिवार और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में एक तनाव आया है जिससे नये सम्बन्ध सूत्र उद्घाटित हुए हैं। व्यक्ति अपनी इयत्ता के लिए परिवार मे आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्वों से पीड़ित हो, कॉच के बर्तन की तरह टूट रहा है। माँ–बाप, भाई–बहन, पति–पत्नी आदि जैसे पवित्र रिश्ते भी संयुक्त परिवारों के विघटन से टूट उठे है। व्यक्ति अन्दर और बाहर दोनो स्थानों पर तनावों से बचा नहीं है। कही आर्थिक विपन्नताएँ उसे कुठित कर रही हैं तो कही प्राचीन मान्यताएं उसे तोड़ रही है। न वह आधुनिक बन पाता है और न प्राचीन मूल्यों का समर्थक ही। इस प्रकार उसकी स्थिति संक्रमणशील बनकर रह गयी है।

---

1 रेणु मैला आँचल पृ0–115

2 नागार्जुन उग्रतारा पृ0–86

विज्ञान, शिक्षा और स्वतंत्रता ने लोक मानसिकता को नयी चेतना प्रदान की है और यह विघटन, उसी क्रियाशील-चेतना का परिणाम है। तनाव और विघटन जहाँ कुछ तोड़ते है वहाँ जोडते भी है। आज व्यक्ति के स्थान पर समाज की प्रतिष्ठा की नयी नैतिकता उत्पन्न हो रही है। ईमानदारी और अहिंसा बेईमानी और हिंसा में परिवर्तित होकर भी युग का नया प्रतिमान बन रही है।

वेयक्तिक सम्बन्ध (आदर्श और यथार्थ में द्वन्द्व)

"ग्रामीण भारत का साधारण व्यक्ति आज अपनी वेयक्तिक स्थिति को समझने लगा है। अकेलापन उसकी अनिवार्य नियति बनती जा रही है, गाँव-घर के संयुक्त परिवारों मे रहकर भी वह अकेला पड़ता जा रहा है। इसी व्यक्तिगत प्रवृत्ति के कारण वह न किसी समाज से जुड़ पाता है और न व्यक्ति से। सामाजिक सन्दर्भों से अलगाव और व्यक्ति के अपने भटकाव के पीछे आधुनिकताजन्य भौतिक जीवन दृष्टि कार्य करती है। स्वार्थ ही उसका मूल्य और मापदण्ड है और उसी के आधार पर अन्य सामाजिक, धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों से जुड़ना चाहता है।" हर स्तर पर व्यक्ति अपनी वेयक्तिकता खोए बिना व्यापक सामाजिक सन्दर्भों से जुडने की निरन्तर चेष्टा करता है। आत्महित की दृष्टि से वह सामाजिक अनुशासन स्वीकार करता है तो परिस्थितियों से विवश होकर विक्षुब्ध, कुण्ठित, अपमानित एवं समाज-उपेक्षित होकर वह विद्रोह भी करता है। यह विद्रोह अन्तर्वाह्य दोनों ही स्तरों पर होता है जो अनेक समस्याओ को जन्म देता है।"[1] इस अन्तर्वाह्य संघर्ष और तज्जन्य अन्तर्विरोधों के बीच टूटते हुए व्यक्ति की संवेदना को रेणु और नागार्जुन के कथा साहित्य में बड़ी प्रमाणिकता से उजागर करने का प्रयास किया है।

नागार्जुन के उपन्यास "दुखमोचन" का दुखमोचन गाँव की गन्दी राजनीति से अपने आन्तरिक द्वन्द्व में टूटता दृष्टिगत होता है। उसके सुधार-कार्यों को सराहने के स्थान पर गुमनाम आलोचनात्मक चिट्ठी गयी तभी तो वह कहता है, "कि गाँव वालों का यही रवेया रहा तो दुखमोचन फिर कलकत्ता चला जायेगा।"[2] दुखमोचन के इस कथन मे उसके नेराश्य एवं कुण्ठाओ के दर्शन स्पष्ट हैं।

---

1 सुरेश सिन्हा हिन्दी उपन्यास पृ0-132-133
2 नागार्जुन . दुखमोचन पृ0-107

रेणु के "परती परिकथा" में शहर से लौटे जितेन्द्र का भी यही अनुभव है कि पिछले वर्षों में परानपुर गाँव ही नहीं भारत के अधिकतर गाँव टूटे हैं, आदर्शो से फिसलकर यथार्थ को धरती पर गिरे हैं।" गाँव के परिवार टूटे हैं, व्यक्ति टूट रहा है– रोज–रोज काँच के बर्तनो की तरह। नही। निर्माण भी हो रहा है। नया गाँव नये परिवार और नये लोग।"[1] गाँव के नेता और सरपंच से लेकर आम आदमी समय की करवट के प्रति जागरूक है। नये–नये सन्दर्भ उन्हें नये–नये मूल्य प्रदान कर रहे हैं। लुत्तों के निर्देशन मे लग रहे भीड़ के नारे जितेन्द्र की वाणी से थम जाते है। जितेन्द्र लोगों मे यथार्थ का अहसास जगाते है कि किस प्रकार उन्हें मुर्ख बनाया जा रहा है। गाँव के विविध पक्षों मे व्यक्ति के अन्दर आदर्श और द्वन्द्व का दर्द परानपुर के अनेक प्राणी सहते हैं।

पारिवारिक सम्बन्ध

भारत में परिवार और रिश्तेदारी के सम्बन्धो का महत्व पश्चिम से अपेक्षाकृत अधिक है। परिवार मानव–समुदाय की आधारभूत इकाई है। मनुष्य की प्रारम्भिक एव मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले संगठन एव संस्थाओं में परिवार का स्थान प्रथम एवं प्रमुख है। व्यक्ति की अस्तित्वरक्षा और उनके विकास के समस्त सोपान परिवार से ही प्रारम्भ होते है। स्वतत्रता परवर्ती भारतीय ग्राम–जीवन मे इन पारिवारिक सम्बन्धों में एक परिवर्तन घर कर रहा है और संयुक्त परिवार अपने पारम्परिक ढाँचे को तोड़ छोटी–छोटी स्वतंत्र पारिवारिक इकाइयों में बँट रहा है। एकता अनकत में विभाजित हो रही है। प्राचीन परम्पराओं, आदर्शो एवं आधारभूत मूल्यों में उत्तरोत्तर परिवर्तन एवं सकुचन हो रहा है। पारस्परिकता एवं सामूहिकता नाममात्र को भी नहीं रह गयी है। पारस्परिकता एवं सामूहिकता नाममात्र को भी नहीं रह गयी है। आधुनिकता और आधुनिकीकरण, नवीन तीव्र संचार–साधनों के विकास, आर्थिक अभाव, विदेशी सांस्कृतिक प्रभाव एवं भौतिकता जन्य व्यष्टिपरक भावना के कारण संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं। सम्बन्धों के बदलाव आ रहा है। गाँव के सामाजिक जीवन में इन नये पारिवारिक सम्बन्धों ने नयी मानसिकता प्रदान की है और इसका वृहत लेखा–जोखा हमे रेणु और नागार्जुन के कथा साहित्य में प्राप्त होता है।

---

1 रेणु – परती परिकथा पृ0–18

पति–पत्नी सम्बन्ध ·

गृहस्थ–जीवन में, पति–पत्नी सम्बन्ध पारिवारिक जीवन का मुख्य सम्बन्ध है। यही वह केन्द्रीय सम्बन्ध है जहाँ से अन्य सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। जीवन मे सुख समृद्धि , सम्पन्नता एव स्वाभाविकता इन दोनो के पारस्परिक सहयोग एवं सद्भाव पर आधारित है। जीवन के विकास का आधार पर आधारित है। जीवन के विकास का आधार यही सम्बन्ध है। पति–पत्नी सम्बन्धों मे जरा–सी कटुता समस्त वातावरण में कटुता भर देती है। पश्चिमी सभ्यता एव शिक्षा के कारण नागरिक जीवन मे इन सम्बन्धो के अन्तर्गत बहत तीव्रता से परिवर्तन आ रहा है जबकि गाँवों म यह परिवर्तन–प्रक्रिया अभी नाममात्र को है। शहरो मे इसी सम्बन्ध–कटुता का परिणाम है तलाक। तलाक की प्रथा अभी गाँवों से दूर है। पति–पत्नी के पारम्परिक सम्बन्धों मे एक नई स्थिति उस समय उपस्थित होती है जब उनके वैवाहिक जीवन मे किसी तीसरे प्रेमी अथवा प्रमिका का आगमन होता है। प्रेम की त्रिकोणात्मक स्थिति पारस्परिक संघर्ष मे परिवर्तित हा जाती है और आकर्षण विकर्षण मे बदल जाता है। विवाहोपरान्त पति अथवा पत्नी का तीसरे को समानान्तर लेकर चलना नैतिकता की नयी स्थितियों को जन्म दे रहा है। ग्राम–जीवन में नैतिकता का यह नया प्रतिमान स्थापित नहीं हो सका है। चोरी–छिपे चलने वाला तीसरा सम्बन्ध तो वहाँ पहले से भी रहा है अथवा है किन्तु अब जरा ज्यादा हो गया है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में भारतीय ग्राम–जीवन के स्त्री–पुरूष–सम्बन्धो को तो विविध सन्दर्भो में उठाया है, लेकिन पति–पत्नी सम्बन्धो में शहरी तौर–तरीकों का प्रवेश न के बराबर ही किया है। उसमें आत्म–सत्ता हेतु सघर्ष के स्वर नहीं है। नागार्जुन का "उग्रतारा" ही एकमात्र उपन्यास है जिसकी उगनी अपने पति सिपाही भभीखन सिह को छोड़, विवाह और पति के सारे नाटक को नकार, अपने प्रेमी कामेश्वर के पास चली जाती है। नागार्जुन के कथा–साहित्य के अन्तर्गत विभिन्न पति–पत्नी के सम्बन्धो को देखकर ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण परिवेश, अभी शहरी मानसिकता से दूर है तथा तनाव के झंझट, तलाक की समस्या एवं कृत्रिमता अभी वहाँ नहीं आ पाई है। आधुनिकता ने स्वत्वबोध तो कराया है लेकिन समता की माँग अभी शेष है।

माता–पिता और संतान

पति–पत्नी के सम्बन्धों के पश्चात माता–पिता और संतान–सम्बन्ध पारिवारिक सम्बन्धों मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। माता–पिता का संतान के साथ खून का रिश्ता होता है और वे इस रिश्ते को निबाहने के लिए यथासंभव प्रयत्न ही नहीं

बलिदान तक करते है। लेकिन शिक्षा और आधुनिकता की अधभक्ति ने शहरों में, और अशिक्षा अधकचरी शिक्षा तथा महँगाई ने गाँवो में इस सम्बन्ध को काफी हानि पहुँचाई है। डा0 राम दरश मिश्र का कहना है– "ग्रामीण परिवेश में आज खून का रिश्ता पानी हो रहा है और पानी का रिश्ता खून हो रहा है।"[1]

रेणु के "परती परिकथा" में एक साथ ही पति–पत्नी के लटकते, खोखले सम्बन्ध तथा संतान के प्रति पिता की धारणा का पता लगता है। समस्त परिवार के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रश्न–चिन्ह ही नहीं लग जाता, यह भी पता चलता है कि परिवार की परम्परागत मर्यादा एवं आदर्शवादिता के अवशेष भर वच रहे है। वीर भद्दर और ननुदाय का वार्तालाप स्थिति को स्पष्ट कर देता है–

"तुम नही जानतीं ? उसकी माँ ने, बाबू जी को किस तरह बेइज्जत करके, नंगाझारी करके, चोरी का चार्ज लगाकर बदनाम किया ? तीन–तीन झूठे मुकदमें किए ?"

"जिसका जमा बुड़ावेगा कोई, उस पर मुकदमा नही होगा ?" नुनुदाय ने बात गडाई, अपने पति की देह में। वह जानती है सब कुछ। बीर भद्दर ने एक करारा तमाचा नुनुदाय के मुँह पर जड़कर उसका मुँह लाल कर देना चाहा, पर कुछ सोचकर मन–मसोसकर रह गया, परन्तु बिना भड़ास निकाले नही रह सका।"

"देखो एक तो अपनी फैमिली मे कहां से एक डोल्ट डम्फास पैदा हुआ है। अब तुम भी ऐसी बात करती हो ? अपने फादर इन लॉ के नाम पर झूँठा तोहमत लगाती हो ? कौन कहता है? किसका जमा बुड़ाया ?"

"बच्चा – बच्चा जानता है, बोलता है।"

"बोलने दो।"[2]

बीर भद्दर ने उस जाहिल औरत से बोलने के बजाय मौन सत्याग्रह की तैयारी की।

---

1 राम दरश मिश्र सूखता हुआ तालाब पृ0–12
2 रेणु परती परिकथा पृ0–175

रेणु के "मैला आँचल" में तहसीलदार कमला का अवैध गर्भ जानकर भी बेटी के सुख के लिए चुप रहते हैं और सामान्य आचरण करते हैं। उससे पितृवत्सलता टपकती है। उधर कमला भावी शिशु के लिए रंग-विरग के स्वप्न संजोती है-

"लेकिन जबसे उसे आने वाले की आहट मिली है, कमला का मन किसी दूर देश मे खो सा गया है। एक ही साथ बहुत से बच्चो के मुखडे खिलखिला उठते हैं उसकी आँखो के आगे। बच्चे उसके साथ आँख मिचौनी खेल रहे हे ? कौन हे वह ? सभी प्यारे ? ताजे कमल की तरह खिले हुए। वह किसका हाथ पकड़े ? वह एक चंचल बालक को उठाकर गोद में ले लेती है। कितने कोमल हें उसके हाथ-पैर केसी मीठी मुसकराहट ! कितना चंचल! मेरा चुलबुला राजा रे! कमला की छाती से दूध झरने लगता है।"[1]

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" का उमानाथ अपनी माँ को इसलिए बुरी तरह फटकारता है, क्योकि वह बेचारी मेहनत-मजूरी करके, चर्खा चलाकर जेसे-तेसे अपनी गुजर करती है। बेटे महाराज ने कलकत्ते मे नोकरी क्या की मानों अफसर ही बन गये हों। माँ को सहारा देने के स्थान पर उसे झिड़कियाँ देते है। आज की युवा-पीढ़ी और उसकी कृत्रिमता पर उसी के शब्दों में व्यग्य है कि "चर्खा चलाकर तूने दुनिया-भर को बतला दिया है उमानाथ आवारा है. कलकत्ता मे खुद तो मोज मारता है ओर घर पर माँ जुलाहिन हुई जा रही है। खबरदार! अब कभी चर्खा हुआ तो हाथ काट लूँगा "[2] युग की श्रद्वा-भावना आज समाप्त हो चली है। मूल्य, मर्यादा का विघटन हो गया है। झूठे दंभ और दिखावे की प्रवृत्ति के कारण श्रम को नकारा जाता हे और माँ को भरण-पोषण देने के बजाय अपमानित किया जाता है।

नागार्जुन के "नई पोध" का टुनाई अपने पिता की संकीर्णताओं से दु खी है। अपनी बहनों की दयनीय जिन्दगी, दुर्दशा रह-रहकर उसकी आँखों में कोंधती है। कारण है उनका अनमेल विवाह । इस सामाजिक कुरीति के मूलोच्छेदन हेतु वह नवयुवकों का साथ देता है यद्यपि उसका पिता इसे स्वीकार नहीं करता।

---

1 रेणु मैला आँचल पृ0-268

2 नागार्जुन रतिनाथ की चाची पृ0-155

अन्य सम्बन्ध

अन्य पारिवारिक नाते-रिश्तों मे भाई-भाई के पारस्परिक सम्बन्ध, बहन-भाई के सम्बन्ध, साथ-बहू के सम्बन्ध, देवरानी-जिठानी के सम्बन्ध, चाचा-ताऊ के सम्बन्ध, भाभी-ननद के सम्बन्ध आदि विभिन्न सम्बन्धों को अभिव्यक्ति मिली है। लोक-जीवन मे इन नाते-रिश्तों मे वह उष्मा नहीं जो पहले थी। मँहगाई, स्वार्थवादिता और पारस्परिक राग द्वेष ने इन नाते-रिश्तो में फीकापन ला दिया है। लोक-परिवेश में इन परिवर्तित सम्बन्धों ने कहीं कुंठाए उत्पन्न की है तो कही निज श्रेष्ठता का बोध जगाया है।

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" की गोरी अब उमानाथ की पत्नी कमलमुखी के घर पर आने से अच्छी तरह त्योहार भी नहीं मना सकती। गोरी पाँच सेर पकवान बनाने को कहती है तो बहू उनके कान काटती हुई कहती हे कि ढाई सेर ही काफी रहेगा। खाली सलाह ही नही पीछे अपने पति का आदेश भी सुनाती है- "मना कर गये है। "[1] गोरी चाची इस घटना से टूट गयी। मेहनत-मजदूरी करने वाली इस औरत ने त्योहार (जो साल भर मे आते है। के दिन बडी कसक अनुभव की। होली का मजा जाता रहा। आये दिन की कटु घटनाओ का परिणाम यह हुआ कि चाची "बेहद कमजोर हो गयी। पतले-पतले वे सुन्दर होठ फीके पड़ गये थे। कपाट पर नीली-नीली नसें उभर आई थीं। आँखे धँस गयी थीं। मानों दो कुओं में दो तारे टिमटिमा रहे हें। छाती की हड्डियाँ बाँस की फट्टियो की तरह झाकझक कर रही थीं। पेट ओर पीठ सटकर एक हो गये थे।"[2]

इस प्रकार पारिवारिक सम्बन्धों में कहीं कही पुरानी परम्परा, आदर्श के प्रतिमानो का निर्वाह है लेकिन अधिकाश स्थलों में आधुनिकता, नये मूल्यबोध, शहरीकरण के प्रभाव, बढते आर्थिक दबाव आदि के कारण नई-पुरानी पीढी का संघर्ष भी मुखर हे। प्रमुख तथ्य है कि नई पीढ़ी आक्रामक हे और विरोध पर उतारु हो गयी है।

संयुक्त परिवार-विघटन

प्रत्येक व्यवस्था समय की गतिविधि के अनुसार समन्वित एवं समायोजित होती रहती हे। पुरानी व्यवस्था परिवर्तित होकर नये रूप में सम्मुख

---

1 नागार्जुनः रतिनाथ की चाची, पृ0-162
2 नागार्जुन - रतिनाथ की चाची पृ0-166

आती है। यही स्थिति ग्रामीण परिवारों की भी है। अत अपनी वर्तमान आवश्यकताओ के अनुरूप परिवार समायोजित हो रहे है। सयुक्त-परिवारो की इस समायोजन प्रक्रिया के विघटन के अर्थ मे लिया जाता है क्योंकि परिवार अपनी सारी सामाजिक शक्तियो के साथ सक्रमणशील स्थितियो मे विभाजित हो रहे है। आदर्शों, मूल्यो एवं परम्पराओ के स्खलन से सयुक्त-परिवार की व्यवस्था एवं संगठन टूट रहा है। सम्बन्धो के बदलाव से पारिवारिक जीवन अशात एवं कलहपूर्ण हो गया है। उसकी सामूहिकता नष्टप्राय हो रही है। लोक जीवन में यह प्रवृत्ति आज बड़ी तेजी से आ रही है। क्या बडे और क्या छोटे, क्या ऊँच और क्या नीच सभी परिवारो मे यह विघटन अपने पैर फैलाने लगा है।

रेणु के "परती परिकथा" मे भी विभिन्न परिवारों की टूटन व्याप्त है। इस टूटन के पीछे मुख्यत आर्थिक कारण ही है, बाकी अन्य सामाजिक कारण गोण है। गाँव की धरती के एक-एक टुकड़े के माँ, बाप, भाई आदि कई दावेदार हैं, सयुक्त-परिवार ईर्ष्या व द्वेष के अखाड़े से बन गये हैं, बेटा, बाप की शक्ति को चेलेंज करता है तो पिता उसे दुश्मन की निगाह से देखता है। घूंघट मे से ही महीन आवाज में मर्म-वेधी वाणी बोलती है। ससुर भी आखिर कहाँ तक चुप लगाये ? वह भी उसी भाषा में प्रतिकार करता हुआ कहता है, "साले की बेटी। मुँह तोड दूँगा। लगटा की बेटी साली लंगटी।[1] यद्यपि ससुर को अधिकार है कि वह बहु को अप्रत्यक्ष भला-बुरा कह सकता है, लेकिन आज कौन किसी की सुनता है और बेटा लाठी लेकर मुकाबले के लिए अपने भाइयों को ही दुतकारता है। घर के पूत आज पड़ोसी से भी गया-गुजरा व्यवहार करते है।

"संयुक्त-परिवार-विघटन की सच्चाई का समर्थन सन् 1951 की जनगणना से भी होता है। भारतीय ग्रामो में प्रत्येक तीन परिवारो में एक ऐसा परिवार मिला है जिसके सदस्यों की संख्या तीन या इससे कम है। जनगणना रिपोर्ट के अनुसार छोटे घरों का इतने अधिक अनुपात में होना इस बात का द्योतक है कि अब परिवार परम्परागत व्यवस्था के अनुसार सयुक्त नही रहे।"[2] सयुक्त परिवार से अलग होने तथा पृथक घर स्थापित करने की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है।

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0-340

2 डा0 ज्ञानचन्द गुप्त स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना पृ0-112

यौन चेतना

मनुष्य के जीवन में योन–आवश्यकता अत्यन्त गहन एव शाश्वत आवश्यकता है। योन– आवश्यकता मनुष्य की भूख की तरह है। जिस प्रकार व्यक्ति भूखा नहीं रह सकता उसी प्रकार वह अपनी यौन–आवश्यकताओ की पूर्ति किये बगैर नहीं रह सकता । भूख की तृप्ति भोजन मे है तो यौन की तृप्ति प्रेम मे (शारीरिक सम्बन्ध निर्वाह में), स्त्री और पुरूष दोनों में ही यह यौन–आवश्यकता स्वाभाविक रूप से उसके अन्तर में समाहित होती है। यह वस्तुत एक आदिम मनोवृत्ति है। इन्हीं यौन सम्बन्धो एवं स्थितियो से उत्पन्न मानसिकता योन–चेतना है। आज का ग्रामीण परिवेश जो कि तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा है, यौन–चेतना को नये सन्दर्भ प्रदान कर रहा है। विज्ञान प्रदत्त जन संचारी साधन, सिनेमा, टेलीविजन, रेडियों आदि विभिन्न उपकरणो के माध्यम से यौन–चेतना और भी गतिशील है।

फेशन की दौड़–धूप शहरी सभ्यता के संक्रमण एवं जीवन–मूल्यों की टूटन से योन–सम्बन्धी नेतिकता के नये प्रतिमान उभर रहे हें तथा ग्रामीण धरा पर यौन–चेतना की मुखर अभिव्यक्ति हो रही है। गाँव का प्रावृतिक–परिवेश यौन–सम्बन्धों की दृष्टि से अति सहायक है। "गाँव के नवयुवक एव नवयुवतियों म प्राय अपरिपक्व अवस्था मे यौन–अभिलाषा विकसित होने लगती है। ग्रामीण–परिवेश अपने सरचनात्मक एव सामाजिक स्वरूप में उनमें छोटी अवस्थाओ में यौन–सम्बन्धी जानकारी प्रदान करता है। वे केवल जंगल के जानवरों एवं पशु–पक्षियों के माध्यम से ही नही सीखते हें अपितु अपने बडों और विशेष तौर पर स्त्रियो के पारस्परिक वार्तालाप से भी जानकारी ग्रहण करते हें।"[1] यौन–सम्बन्धो में आई नव्यताए निश्चित ही नवीन परिवेश की देन है। रेणु और नागार्जुन ने बड़ी प्रमाणिकता से इन बदलते क्षणो मे, परिवर्तित योन–चेतना को पहचाना है।

रेणु की "परती परिकथा" मे शहरी संक्रमण खूब है। कही शहर से मूल्यो का आगमन हो रहा हे तो कहीं नयी–नयी वस्तुओ के आगमन से योन–चेतना को प्रोत्साहन मिलता है। गाँव बदल गया है। फेशन खूब आ गया है। रहन–सहन मे परानपुर बदलने लगा है। गाँव की मलाही तो शिक्षित क्या हुई अपनी मरजी से ही ही अपने मनचाहे सुवश लाल के साथ भाग जाती हे। "रेणु" के ही "जुलूस" मे रिश्ते–नाते भी भावनाओं के आवेश में टूट रहे हैं। रिगारो, रेशमी, गुणवन्ती आपस में बात कर रही हैं। गुणवन्ती आज की स्थिति को स्पष्ट करती हुई कहती है–

---

1 डा0 ज्ञानचन्द गुप्त – स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना पृ0–112–113

"डूबकर पानी पीओ, एकादशी का बाप भी न जाने। पहले तो एक तालेवर गोठी का ही किस्सा मशहूर था कि बड़ी पुतोहू से "लाट–साट" है। अब तो भैया–बहन में भी शुरू हो गया ?"[1] यौन सम्बन्धों की यह परिवर्तित स्थिति है।

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" के बुधना चमार की औरत जिसे चोरी–चोरी पेट डालने के लिए बुलाया गया है इस अमानवीय कृत्य के लिए गौरी की की बड़े ही तीखे शब्दों में लानत–मलानत करती है। बड़ी जाति वालो पर यह व्यंग्य तो है ही साथ ही उसकी वैचारिक स्थिति का भी ज्ञान कराता है। बडी जाति वालों की अपेक्षा ये छोटी जाति वाले ही जिन्दगी के मूल्यों के समीप है। बुधना चमार की औरत ठीक ही कहती है कि, "हमारी बिरादरी में किसी के पेट से आठ–आठ, नौ–नौ महीने का बच्चा निकाल कर जगल में फेक आने का रिवाज नहीं है। ओह, कैसा कलेजा होता है तुम लोगों का! मइया री मइया!"[2] यह बदलते हुए परिवेश की वाणी है अन्यथा बुधना चमार जैसे की औरत इतना कह पाती। गाँव के यौन सम्बन्धो में आज विधवा भी शामिल है। उसकी भी शारीरिक आवश्यकता है और वह चोरी–छिपे उसे कही अपने वश और कही पराये वश पूरा करती है। यौन–सम्बन्धो की यह एक बदलती स्थिति है। इस सामाजिक बदलाव का ही प्रतिफल है कि नागार्जुन के "नई पोध" की बिसेसरी भी मनौती माँगती है। नागार्जुन के "वरूण के बेटे" की मधुरी की तो बात ही क्या है? रात की चाँदनी में अपने बाल–प्रेमी मगल की अमराइयों के बीच निर्धारित समय पर मिलने आती है। यद्यपि दोनों की शादी हो जाती है लेकिन फिर भी अपने सम्बन्धों का निर्वाह करते हैं।" बेताबी से अपनी बलिष्ठ बाहों में कसकर मधुरी को उसने चूम लिया। फिर चूमा और फिर चूमा।"[3] स्वच्छ चाँदनी में जहाँ इतना स्वच्छन्द वातावरण हो तो यौन–चेतना आखिर कैसे दबेगी।

छोटी आयु में यौन चेतना

लोक–परिवेश में छोटी आयुगत यौन–चेतना अपने वृहत्तर परिवेश मे एक राष्ट्रीय समस्या से जुडी हुई है। देश की जनसंख्या समस्या जिसके ऊपर राष्ट्रीय

---

1 रेणु जुलूस पृ0–87
2 नागार्जुन– रतिनाथ की चाची पृ0–22
3 नागार्जुन– वरूण के बेटे पृ0–40

राष्ट्रीय स्तर पर विविध योजनाएँ कार्य कर रही है और करोडो रुपया व्यय हो रहा है, इसी का वृहत् रूप है। गाँव में अल्प आयु के विवाह इसके उत्स है। छोटी उम्र में विवाह कर दिये जाने से लडकी एवं लड़के के समक्ष एक प्रश्न उपस्थित कर दिया दिया जाता है। ग्रामीण परिवेश का हर घर ही नही उनका अपना घर ही इस कार्य का शिक्षक बन जाता है। छोटे-छोटे मकान होते है, संयुक्त परिवारो में रहकर ये लोग बडे-बूढ़ो की बाते सुनते हैं, उनके देनिक क्रिया-कलाप देखते हे अत यौन-चेतना का जागना स्वाभाविक है। ग्रामीण परिवेश ही उद्बोधक होता है और परिवार इस सबकी सीख देता चलता है। इसलिए यौन-चेतना छोटी उम्र में ही जाग उठती है। अपरिपक्व अवस्था मे ही ये यौन-क्रीड़ायें करने लगते हैं जिसका एक तो इनके वैयक्तिक विकास पर बुरा अभाव पड़ता है दूसरे देश में जनसंख्या तेजी से बढती जाती है और वह जनसंख्या समस्या बनती जा रही है।" गाँव के पारस्परिक सम्बन्ध बडे प्रत्यक्ष एवं सादा है, लोग यौन सम्बन्धों पर पारम्परिक चर्चाओं में कतई नहीं बचते। और तो और मजाकों मे भी यौन सम्बन्ध खूब अपनी भूमिका निभाता है। गाँव मे शहरो की अपेक्षा लडके एव लड़कियो को मुक्त एव स्वच्छन्द वातावरण प्राप्त हे तथा कई बार यौन सम्बन्धी अनियमितताओं की घटनाए नियंत्रण के अभाव में घटती है।"[1]

नागार्जुन के "नई पौध" की क्वारी विसेसरी अपनी आन्तरिक घुमड़न और मन में उभर रही यौनेच्छा की अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से करती है। ईश्वर से खाली शादी की मनौती ही नहीं मानती उसके मन में ईश्वर को भी खुश करने की इच्छा है। "विसेसरी की मनउती यही थी कि आने वाले अगहन मे अगर कोई बीस या बाईस-साला दूल्हा उसके लिए मिल गया और शादी हो गयी तो वह चाँदी की छोटी सी खूबसूरत वसूली (बाँसुरी) गढ़वायेगी सुनार से, उसे बाँके बिहारी, कुँवर कन्हेया के हाथो थमा देगी।" गाँव में छोटी उम्र में जब एक की शादी हो जाती है और दूसरी उसके सुखो को सुनती है तो स्वाभाविक है कि वह भी उस ओर प्रवृत्त हो और इस प्रकार एक को देख दूसरी को यौन-चेतना की सुध जागती है।

ग्राम-जीवन के निम्नवर्ग मे यौन-चेतना का छोटी आयु मे विकसित होने का एक कारण यह भी है कि उच्च वर्ग एवं समृद्ध वर्ग की वासनात्मक आँखे सदेव उनके ऊपर टिकी होती है और अवसर प्राप्त होते ही चाहे साहूकार हो या जमींदार, प्रधान जी

---

1 डा0 ज्ञानचन्द गुप्त स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना पृ0-112

2 नागार्जुन - नई पौध पृ0-87

हो या पण्डित जी, तुरन्त हाथ साफ करने का प्रयत्न करत हैं और इसी प्रयत्न–प्रक्रिया का एक अनुभव ही उनमें इच्छा शक्ति जगा दता है और इस प्रकार यह प्रवृत्ति संक्रामक रोग की भाँति फैल जाती है। रेणु के "परती परिकथा" और नागार्जुन के "बलचनमा" मे आये जमीदारों एव समृद्व वर्ग के विभिन्न कुकृत्य इस तथ्य के प्रमाण है।

बड़ी छोटी जातियों के पारस्परिक योन सम्बन्ध

ग्राम–जीवन के सामाजिक सन्दर्भ में छोटी–बड़ी जातिया के पारस्परिक योन सम्बन्ध वहाँ के परिवेश की परिवर्तित नैतिक मान्यताओं का उद्घाटन करते है। गाँव में यह परिवर्तित नेतिकता भी अभी चोगें के बीच ही है। जाति व्यवस्था का भय अभी समाप्त नही हो पाया है। गाँव के बहुत से व्यक्ति इन यान सम्बन्धों से परस्पर बँधे होते है लेकिन स्पष्ट रूप से तो कोई विरला ही वास्तविक यथार्थ को स्वीकारता है। छोटी जाति के स्त्रियों पर कहीं बलात् ये सम्बन्ध थोपे जाते हैं तो कही उनकी परिस्थितियाँ उन्हे इस ओर ढकेलती है। छोटी जातियो पर इन सम्बन्धो की प्रतिक्रिया बडी उग्र है। आज ये लोग भी अपनी सामाजिक सत्ता का अर्थ समझते है। स्वतत्रता ने चाहे कुछ न दिया हो किन्तु उराने वेचारिक स्वतंत्रता एवं न्याय तथा अन्याय के बीच विभाजक रेखा को उनके मस्तिष्क में स्पष्ट कर दिया है।

रेणु की "परती परिकथा" की मसारी और सुवशलाल का जोड़ा साहसी है। छोटी–बडी जातियों को इन्होंने जन्म से नही कर्म से माना है। जाति के बन्धनो को तोड़ यह युगल अपने–अपने माता–पिता को छोड़, गाँव की धरती को छोड़ शहर की ओर चला जाता है जहाँ न कोई जाति को पूछेगा और न कोई उन पर उँगली उठा सकेगा। योन सम्बन्धों की इसी नयी चेतना का सम्बन्ध हृदय और मस्तिष्क दोनों से है। यह युगल दामपत्य जीवन की सफल भूमिका निभाता है। गाँव में फैलाती शैक्षणिक चेतना ने इस नई पीढ़ी को नयी मानसिकता प्रदान की है।

लोक–परिवेश मे छोटी–बडी जातियो के इन योन–सम्बन्धो ने वहाँ की सामाजिकता को कई रूपों में प्रभावित किया है। कहीं संघर्ष उतपन्न होता है तो कही परम्पराये टूटती है, कहीं व्यक्ति हाथ से जाता है तो कही मूल्य स्खलित होते है।

<u>विवाह और नारी</u>

लोक जीवन मे विवाह और नारी एक ऐसा सामाजिक सन्दर्भ है जो अपने चारो ओर विभिन्न समस्याएं, अनुत्तरित प्रश्न एव विभिन्न यातनाये लपेटे हुए हैं। प्रत्येक युग में वैवाहिक–प्रथा मानव समाज के किसी न किसी रूप में सदेव रही है। विवाह ही परिवार की मूलभूत इकाई है, समय ओर सन्दर्भ के साथ इसमें भी परिवर्तन होते रहे हैं। इस अवधारणा मे समाज–विशेष एवं काल के अनुसार विविधता अवश्य पाई जाती है लेकिन नारी–पुरूष के योन सम्बन्धो को सामाजिक मान्यता इसी के माध्यम से प्राप्त होती है। यह नारी ओर पुरूष का एक सामाजिक समझौता है। भारतीय लोक–जीवन में आज भी विवाह का सामाजिक ही नहीं अपितु धार्मिक महत्व है तथा इसे एक धार्मिक संस्कार माना जाता है, जो अटूट है। सन्तानोत्पत्ति इसी धार्मिक भावना का प्रतिफल होता है जिसके पीछे मृत्युपरान्त अन्त्येष्टि, श्राद्ध आदि धार्मिक अनुष्ठान की भावना प्रतिबद्ध होती है। अत कहा जा सकता है कि विवाह मानवीय समाज की एक सश्लिष्ट सांस्कृतिक घटना है जिसके फलस्वरूप युवक–युवती, पति–पत्नी मे परिणत होकर योन–सम्बन्धों का सामाजिक निर्वाह करते हुए परिवार की स्थापना करते है।

आज के परिवर्तित परिवेश मे विवाह के प्रति नारी का दृष्टिकोण बदला है। शहरो में उसे काफी कुछ अधिकार प्राप्त हुए हैं। वह वर--पक्ष द्वारा देखी जाती है तो अब वह भी समता के आधार पर उस पुरूष को विवाह से पूर्व ही देखना चाहती है जिसके साथ उसे आजीवन रहना है। यह देखने और जाँचने की प्रथा गाँव मे अपवाद रूप में ही प्राप्त है। गाँव की नारी का भाग्य बहुत कुछ अभी उसके माता–पिता के हाथ में है। यह उसकी केवल उन्ही के अधिकार क्षेत्र में आती है। जिसक साथ ओर जैसे भी वे विवाह की योजना करते है उसे सहर्ष स्वीकार होती है। निम्न जातियो एवं उच्च जातियो दोनों की ही नारी अभी प्राचीनता की डगर पर जा रही है। रेणु की "परती परिकथा" की मलारी की भाँति सेकड़ो में एक–आध शिक्षित लडकियाँ ऐसी निकल आती है इन थोथी परम्पराओ के नारो को अनसुनी कर अपने मार्ग में अग्रसर होती है।

भारतीय लोक–परिवेश में शहरी सभ्यता एवं सस्कृति, शैक्षणिक चेतना एव वैज्ञानिक–उन्मेष ने विवाह की प्राचीन परम्परागत धारणाओं मे यत्र–तत्र टूटन

उपस्थित की है। गाँव में भी विवाह की सामाजिक एव धार्मिकता पर नई पीढी प्रश्न चिन्ह लगा रही है। अन्तर्जातीय-विवाह सम्बन्ध चोरी-छिपे गाँव मे भी पनप रहे है। लेकिन नागरिक परिवेश का तलाक और तनावपूर्ण मानसिकता अभी वहाँ दृष्टिगत नहीं होती, यह एक अलग बात है कि वैवाहिक कलह एवं व्यभिचार वहाँ की जिन्दगी से अछूते नहीं है। विवाह के विषय में गाँव की युवतियाँ लगभग शत-प्रतिशत माता-पिता के निर्णयों से ही बंधी होती है, यद्यपि उन्हे इन निर्णयो से ही बँधी होती है, यद्यपि उन्हे इन निर्णयों की कीमत कई बार अपने अमूल्य जीवन से चुकानी पडती है। नागार्जुन के "नई पोध" की बिसेसरी तो केवल विवाह की मनऊती ही ईश्वर से कर सकती है।

विधवा विवाह ·

भारत के गाँव अपने पारम्परिक आदर्शो एव धार्मिक मूल्यो के गोरवपूर्ण स्थल रहे है। अपनी पराधीनता के काल में यहाँ के ग्रामीण समाज में भी विभिन्न विसंगतियाँ उत्पन्न हो गयी थी। सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, दहेज प्रथा, अनमेल विवाह आदि ऐसी रूढ मान्यताएँ बन गयी थी। स्वातंत्र्योत्तर युग के ग्राम-जीवन मे नारी का साक्षात्कार नये सन्दर्भो में हुआ है। उसका चिन्तन नये आयामो को छूता है, जीवनेच्छा की पुकार अन्तर को अब मथती है। पुरानी विसंगतियों का कोहरा धीरे-धीरे हट रहा है। गाँव की विधवा नारियाँ भी परम्पराओ के बन्धनों को तोड नयी मानसिकताजन्य चेतना से आक्रान्त है। विधवा विवाह यद्यपि इतना प्रचलित नहीं है लेकिन गाँव में पति की मृत्यु के साथ सती होने की प्रथा बिल्कुल समाप्त हो गयी है।

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" में लेखकीय दृष्टि समस्यामूलक परिवृत्त मे प्रवेशोपरान्त भी समस्यामूलक नहीं रह पाई है और उसने चेतनाशील विधवा नारी को विभिन्न प्रतारणाओं का शिकार बनाकर उसके दु:ख की गाथा कही है। यह दु ख उसके जीवन की एक वास्तविकता है, जिसके बीच से उसने अपनी यात्रा तय की है। विधवा गौरी को देवर जगन्नाथ का गर्भ रह जाता है जिसके कारण उसे अपमान, अवमानना आदि सभी सहना पड़ता है। उसकी माँ यह सब जानकर दुखी तो है लेकिन इसे स्वाभाविक ही मान लेती है और उसकी वाणी उसके अन्तर को यों अभिव्यक्त

करती है, "काई क्या कर लेगा हमारा ? बिटिया को मे प्याज की तरह जमीन में दबाकर नही रख सकनी, इसके चलते जो कुछ हो। जिस समाज में हजारों की तादाद में जवान विधवाएं रहेगी वहाँ यही सब होगा। मक्खन पाठक की पतोहू उढरकर पंजाब चली गयी है, एक सिक्ख के साथ रहती है। मै अपनी लड़की को झाड़ू से झाड-पीटकर घर निकाला और देश-निकाला दूँगी सो मुझसे नहीं होगा। मेरे जीते-जी गौरी मुसलमान या सिक्ख के घर जाने को मजबूर नहीं की जा सकती ।"[1] बेधव्य-जीवन की यही विसंगतियाँ है। अँधेरे में जो पाप करते हैं उजालें मे वही आलोचना भी करते है। गौरी अपनी स्थिति से जो कुछ भी हो सघर्ष करती है। उसके पीहर में जब स्त्रियाँ उसे देखने आती है तो उन्हे सब कुछ कहने मे उसे बिल्कुल संकोच नही होता और उन्हें सम्बोधन कर कहती है, "ओ अभागी ओरतों! मुझे क्या हो गया हे, यह तुम भलीभाँति जानती हो। तुम्हें रत्ती-रत्ती पता है, कि इस तरह का सकोच किसी विधवा की मुखाकृति पर कब छाया रहता है, यह भी तुम भलीभाँति जानती हो। फिर क्यो मेरा दिमाग चाटने आई हो? तुम्हें जिसका खटका हे उसी दुर्भाग्य का मै शिकार हूँ। मेरी नियति के साथ क्यो मखोल करने आई हो।"[2]

गौरी और उसकी माँ दोनों के विचारों में यथासम्भव ताजगी है। गौरी यद्यपि विधवा होकर विवाह नही करती, लेकिन सब-कुछ कर लेती है। अप्रत्यक्ष रूप से उसका यौन-निर्वाह, अपनी स्थिति के प्रति जागरूकता उसकी नयी मानसिकता का द्योतक है। गौरी की माँ तो बड़ी ही जीवट वाली औरत है वह कोई रूई का फाहा नहीं जिसे फूँक से उड़ाया जा सके। मिथिला के रूढिवादी समाज की जागरूक विधवा गौरी अपनी माँ की ही तरह प्रगतिशील नारी है, जिसने भारतीय विधवा की समस्त नियति झेली है तथा उसी के बीच में से अपना मार्ग बनाया है। लेखकीय दृष्टि में विधवा-विवाह एवं विधवा-समस्या दोनों ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हर क्षण विद्यमान रहे हैं लेकिन गौरी के चित्रण के माध्यम से ही उसने पाठकों की सहानुभूति एवं सवेदना

---

1 नागार्जुन. रतिनाथ की चाची, पृ0-28
2 नागार्जुन रतिनाथ की चाची पृ0-37

को जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। अत कहा जा सकता है कि नागार्जुन ने न तो प्रेमचन्द की भाँति विधवा आश्रमों की स्थापना ही की है और न विधवा-विवाह की सामाजिक आग्रहशीलता का प्रबल बखान।

नागार्जुन के "बलचनमा" मे बलचनमा की माँ भी वैधव्य की अनन्त विसगतियों का शिकार बनी है और इन्हीं विसंगतियों का परिणाम है कि बलचनमा के हृदय में वह अपनी प्रतिक्रिया के माध्यम से विद्रोह का बीज बमन करती हुई कहती है, "बबुआ बालचन। मर जाना लाख गुना अच्छा है मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नहीं।"[1] उसकी बहन रेवती के साथ छोटे मालिक जमींदार ने अपनी काम-पिपासा शान्त करनी चाही थी, उसी सन्दर्भ मे उसकी माँ ने यह उद्बोधक वाक्य कहा था। इसी वाक्य ने बलचनमा को नई चेतना प्रदान की और साम्यवादियों के प्रभाव मे आ वह गाँव का चेतनाशील प्रगतिवादी नेता बना तथा उसने डटकर जमीदारो का विरोध किया।

अनमेल विवाह

नारी के सामाजिक शोषण की अनमेल-विवाह-पद्वति हमारे गाँवों की प्रचलित कुप्रथा है। स्वतंत्रता से पूर्व इसका रूप अत्यन्त भयानक था। गरीबी और अशिक्षा की चक्की मे गाँव बुरी तरह पिस रहे थे और नारी का यह सामाजिक शोषण उनकी एक नियति बन गया था। फूल-सी सुकुमारी को वृद्ध के साथ जीवन-यापन के लिए माँ-बाप द्वारा मजबूर कर दिया जाता था। सहनशीलता उसके माथे पर चिन्हित थी अत उसे कुढ़-कुढ़ कर ही सब सहन करना पड़ता था। युवती के मन की अनेको आशा-आकांक्षाए आँसुओं के सहारे ही उक्ति होती। नागार्जुन ने स्वतंत्रता के पश्चात् भी इस कुप्रथा को ग्रामीण परिवेश मे पाया है और उसकी उन तमाम विसंगतियों को उजागर करने का प्रयत्न किया है जो इस कुप्रथा के परिणाम है।

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" में भोला पण्डित एसे ही विवाह संयोजक है। "कितने ही लूले, लंगड, अधे, अपाहिज और बूढे भोला पण्डित की कृपा

---

1 नागार्जुन बलचनमा पृ0-59

से अधखिली कलियों-जेसी बालिकाओं को गृह लक्ष्मी के रूप में पाकर निहाल हो गये। एक-एक ब्याह में पचास रूपये बधे हुए थे।"[1] पच्चीसों लडकियाँ इनके नाम पर रात-दिन आँसू बहाया करती थी। उनकी जिन्दगी नष्टप्राय हो गयी थी।

नागार्जुन के "नई पोध" मे खोंखा आर्थिक परेशानियो में इस प्रकार जकडे है कि उन्हे किसी लडकी को गूँगे को देना पड़ा तो कोई बोडम के पल्ले पडी, तो किसी को तीन जिला पार फेक दिया गया। उनकी छ लडकियो म चार को वेधव्य नसीब हुआ, एक पागल हो गयी तो एक को मिट्टी के तेल से फूँक डाला। रमेसरी का कहना ठीक ही है कि धन-सपदा ही सब कुछ नहीं है। "पन्द्रह साल की कच्ची छोकरी पचास साल के पकठोस दूल्हा के साथ किस तरह अपनी जिन्दगी काटगी ? हे राम।"[2] गाँव का माहे अन्य युवको को मिलाकर एक संगठन बनाता है। विसेसरी की शादी बूढे के साथ न होने देने के लिए उन्होने संकल्प किया। इसी गुट का अगुआ बूढे दूल्हा को साफ-साफ कहता है, "आप यह गाँठ-बाँध लीजिये कि गाँव का एक-एक नोजवान पिटते-पिटते बिध जायेगा मगर यह ब्याह नही होने देगा। यह बहुत बड़े आदमी है, इलाके भर मे नामी है। इनके दो लडके पटना ओर मुजफ्फरनगर में प्रोफेसरी करते हैं, एक लडका लहेरिया सराय मे वकालत करता है लाख-शरम धो-धो कर यह पी गये है तो क्या हम भी बेहया बन जाएँ ? इन्हीं के खिलाफ कल नोजवानों का हम एक जुलूस निकालेगें।"[3] ओर परिणाम होता है कि बूढ़े पति असफल होते है। विसेसरी की शादी वाचस्पति से होती है। वह सामाजिक विषमाताओ और विसंगतियों को समझता है। "व्यक्ति का संकट ही समाज का सकट है और समाज का संकट समूचे देश का संकट है।"[4] गाँव के युवकों के मध्य अभी यह चेतना अपवादस्वरूप ही परिलक्षित होती है।

---

1 नागार्जुन रतिनाथ की चाची पृ0-74
2 नागार्जुन नई पोध पृ0-28
3 नगार्जुनः नई पोध पृ0-59
4 नागार्जुन नई पोध पृ0-122

नागार्जुन के "अग्रतारा" की उगनी भी इस अनमेल-विवाह की यातनाओ का शिकार रही है। अपनी पारम्परिक शादी जो कि भभीखन सिह के साथ हुई थी, को एक प्रकार का बलात्कार कहती है, भले ही वह रीति-नीतिओ की सीमाओ के बीच हुआ। हवन, सिंदूर सब व्यर्थ थे। पण्डित जी के मंत्रोच्चार का कोई अर्थ ही नही था। अपनी शादी का समस्त शास्त्रीय विधान उसे एक अजीब विडम्बना लगता है। वह अन्दर ही अन्दर कहती है," सब कुछ ठीक है। लेकिन स्त्री पुरुष के बीच उम्र का इतना बड़ा फासला किस तरह मखौल उडा रहा था विवाह के सस्कारो का। बाबू भभीखन सिह को कानूनी तोर पर इस बलात्कार का हक हासिल हुआ।"[1] इस अनमेल विवाह के ही परिणामस्वरूप उगनी को अपने पति को छोड़ प्रेमी कामेश्वर की शरण मे जाना पडता है। नागार्जुन के "पारो" उपन्यास की पारो, अनमेल विवाह के जिस आयोजन मे उसकी बलि दी जानी है, उससे भागकर फिर अपने बचपन के खेल के साथी की ओर दौडती है। स्वतत्र भारत के गाँवों मे आर्थिक सकट के कारण आज भी अनमेल-विवाह की प्रथा जीवित है जिससे अनेको युवतियो को अपनी मनोभिलाषाओं के विपरीत अधिक अवस्था के पुरूषों के समक्ष अपने आपको समर्पण करना पड़ता है।

अन्तर्जातीय विवाह

स्वतंत्रता परवर्ती लोक-जीवन में अन्तर्जातीय विवाह अपवाद स्वरूप ही हमे प्राप्त है। शैक्षणिक चेतना के प्रसार के कारण गाँव के युवक-युवतियाँ परस्पर प्रेम-पाश मे बँध जाते है और सम्बन्धो का चरम निर्वाह अन्त मे विवाह में परिणत हो जाता है। कुछ परिस्थितियों में इन मानवीय सम्बन्धो मे शैक्षणिक चेतना का कोई हाथ नहीं होता और गाँव के युवक-युवतियाँ सहज एव स्वाभाविक रूप से एक दूसरे की ओर आकृष्ट हो जाते हैं और नये सम्बन्धो की स्थापना मे वे जाति-धर्म एवं परम्पराओं को बिल्कुल अस्वीकार कर देते है। यह बात सत्य है कि लोक परिवेश में प्राचीन परम्पराएं अभी नि शेष हे जो अन्तर्जातीय विवाह जैसे-कार्यो की बाधक है, लेकिन गाँव मे अब यह सम्बन्ध बनने लगे है। रेणु के "परती.परिकथा" के मलारी और सुवश लाल और नागार्जुन के "उग्रतारा" के उगनी और कामेश्वर जीवन के नये प्रकार के सम्बन्धो को लेकर चलने वाले पात्र है। ये पात्र गाँव के अन्य

---

1 नागार्जुन उग्रतारा पृ0-35

लागों से अलग है क्योंकि इन्होंने परम्पराओ का अस्वीकृत कर नवीन मार्ग का संधान किया है।

आज का ग्रामीण परिवेश अत्यन्त विषाक्त हो गया है। परिवर्तित सन्दर्भो में नये नाते-रिश्ते विकसित हो रहे है, ग्रामीण नारा इन सबसे प्रभाव ग्रहण कर, अपने विचारों मे नग्यता ला रही है। उसने भी सामंती शोषण के हथकण्डों को दुत्कार दिया है। व्यक्तित्वहीन अबला आज व्यक्तित्व पा रही है और परिवार तथा समाज दोनों के शोषण को अस्वीकार कर रही है। रेणु की" परती परिकथा" की मलारी, नागार्जुन के "वरूण के बेटे" की मधुरी, "उग्रतारा" की उगनी, "कुम्भीपाक" की कुन्ती आदि चेतनाशील नारियाँ है जिन्होंने जीवन के विविध पक्षों में अनन्त यातना सहकर भी संघर्ष को ही अपनाया है।

वर्ग-चेतना

ग्राम-जीवन के विभिन्न वर्गो को मोटे तौर पर तीन वर्णों में विभाजित किया जा सकता है। उच्च-वर्ग, मध्य-वर्ग और निम्न-वर्ग। इन तीनों वर्गो को भी अन्य वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है, अत सामाजिक संरचना का यह एकमात्र वेज्ञानिक वर्गीकरण नहीं है, लेकिन अध्ययन की सुविधा हेतु समाज के इन विभिन्न वर्गो के माध्यम से वहाँ की सामाजिक मनोभूमि को विवेचित एवं विश्लेषित किया जा सकता है। उच्च-वर्ग मे पूँजीपति एवं जमीदार, मध्य-वर्ग मे देश-भक्ति शिक्षित एव नौकरी पेशा वर्ग तथा निम्न वर्ग में किसान, खेतिहर मजदूर एवं अन्य पेशेवर में उच्च-वर्ग एवं निम्न वर्ग तो अधिकता से प्राप्त है लेकिन मध्यम वर्ग का रूप वहाँ बहुत-कुछ लुप्तप्राय है। मध्यम-वर्ग मे शिक्षित समाज एव नौकरी पेशे वाला वर्ग आता है, जो गाँवों में कम रहता है। पहली बात तो यह है कि गाँवो में अभी शिक्षा ही पूर्णरूप से नहीं पहुँच पाई है और यदि कहीं शिक्षा उपलब्ध होती है तो उन शिक्षितों को बेरोजगारी के चक्रव्यूह में फँसना पडता है। मध्य-वर्ग का संघर्ष बहुत कुछ आन्तरिक है और व्यक्ति अपने अन्दर ही अन्दर टूटता रहता है। शुद्व रूप से वर्ग-चतना अर्थ-प्रसूत है, लेकिन गाँव मे जो वर्ग संघर्ष के रूप पनप रहे है वे शुद्ध आर्थिक नहीं। धर्म-प्रधान, मिली-जुली संस्कृति वाले भारत में विभिन्न प्रकार के मत-मतान्तरों के लोग रहते है अत. वर्ग-चेतना भी विभिन्न कारण-उपकारणो की देन है। समाजवाद समाज में

कवल दो वर्ग मानता है– शोषक और शोषित। अमीर वर्ग शापक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है तो गरीब शोषितों का। शोषित वर्ग की विजय ही उसका अन्तिम लक्ष्य है। इस विजय में वर्ग–सघर्ष अनिवार्य है तथा यह वर्ग–संघर्ष क्रान्ति, हिंसा आदि जैसे कर्मो को अनेतिक नही नैतिक मानता है जो परिवर्तित सन्दर्भो की एक वास्तविकता है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मे गॉव में उत्पन्न वर्ग–चेतना का उसके वास्तविक रूप मे अभिव्यक्त किया गया है।" आज के जीवन मे अर्थ ही सामाजिक विषमता का मूल कारण है और अर्थ पर ही आधारित आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत नये वर्गो का प्रादुर्भाव हुआ है। फलत वर्ग–चेतना और वर्ग–सघर्ष आधुनिक युग मे ही विशेष रूप से प्रतिध्वनित हुआ है।"[1]

रेणु के "जुलूस" में वर्ग–चेतना की भावना मुखर है। वहाँ नोकर–मालिक के सम्बन्धो मे तनाव आये है, सघर्ष जन्मे है। रामजय सिध का नोकर कारे मालिक से यहाँ तक कह देता है कि आप जवाब देने वाले कोन होते है। वह सुनना चाहता है कि आखिर उसका क्या कसूर है। नवीनगर पार्टी–बाजी का अड्डा बन गया है। गॉव मे राजनीतिक चेतना से अधिकार–बोध जागा है। "सबडिवीजनल लीडर" काग्रेस छोटन बाबू को जब यह बात पता चली कि सहायता–कोष मे पेसे नहीं आये हैं तो गॉव में अमीर तालेवर गोढी के मकान पर दुख, पीड़ा, आतंक, भय और भूख से कातर लोगो के झुण्ड लेकर धरना लगाने की धमकी देता हुआ कहता है, "गॉव के लोग मर रहे हैं और आपकी मिल चालू है। निकालिए एक हजार चन्दा। नही तो इसी बार आपका लाइसेंस केंसिल नहीं करवाया तो मेरा नाम छोटन बाबू नही।"[2] तालेवर गोढ़ी के चन्दे से भीड़ की भूख शान्त न हुई और वह "भिखारियो का दल अब गॉव से शहर की ओर चला–जुलूस बनाकर। भूखे, नंगे और पीड़ितों की टोली। शहर के आत्म–केन्द्रिक लोगो की देह भी सिहर उठी।"[3] भूखी भीड़ का जुलूस और उसकी यातनाए वर्ग–संघर्ष की दिशा में बढता हुआ चरण है जिसका लक्ष्य सामाजिक असमानताओं की बढी दूरियो को मापना है।

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" का रत्ती अपने साथी कुल्ली राउत की होनहार बुद्धि की तो सराहना करता ही है साथ ही सामाजिक असमानताएं उसे बुरी तरह खलती है। फटे–पुराने पहन, जूठन खा–पीकर बड़ी जाति वालो की दया पर जीने वाले इन इसानों की विसंगतियों उसे कचोटती है। इन्हीं सब विषमताओ का परिणाम है कि वहाँ वैचारिक चेतना आई, वहाँ का किसान–वर्ग जमीदारो के विरूद्व संघर्ष हेतु

---

1 डा0 सुरेन्द्र नाथ तिवारी प्रेमचन्द्र और शरदचन्द्र के उपन्यास पृ0–9
2 रेणु जुलूस पृ0–154
3 रेणु जुलूस पृ0–155

उठ खडा हुआ। शुभकरपुर की बलुआहा पोखर पर किसान-कुटी बनी। सभी ने दिलखोलकर चन्दा दिया। रतिनाथ की चाची ने मना करने के उपरान्त भी यह कहकर चन्दा दिया कि, "यह दस का काम है। गरीबो का यज्ञ है। मेरे पास और है ही क्या जो दूँगी।"[1] एक विधवा भी अपने वर्गीय हितो के प्रति सचेष्ट है यह यहाँ द्रष्टव्य है। नागार्जुन के "बलचनमा" का बचलनमा भी गरम तेवरों क व्यक्ति है। उसने गाँव के उच्च वर्ग (जमीदारों) के हाथो अनेक यातनाएँ सही है। इन जमीदारो ने उसकी माँ-बहन की इज्जत पर भी हाथ डालने का प्रयत्न किया है। इन सब कारणो से उसे सोचने के लिए तथा प्रण करने के लिए विवश किया है, "बेशक। मै गरीब हूँ, तेरे पास अपार सम्पदा है, कुल है, खानदान है, बाप-दादे का नाम है, अडोस-पडोस की पहचान है, जिला ज्वार में मान है और मेरे पास कुछ नहीं है। मगर आखिरी दम तक मै तेरे खिलाफ डटा रहूँगा। अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध में लगा दूँगा। माँ और बहन को जहर दे दूँगा, लेकिन उन्हे तू अपनी रखेली बनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा।"[2]

नागार्जुन के "दुखमोचन" मे घरेलू मजदूरिने भी कामकाज ठप्प कर अपना असतोष व्यक्त करती है। भले घर की बहू-बेटियो की नाक मे दम आ जाता है। दुखमोचन की भाभी ठीक ही कहती है कि, "अब वे छ आने माहवारी पर काम करना नही चाहती। जमाना तेजी से असंतोष व्यक्त करती है। भले घर की बहू-बेटियों की नाक मे दम आ जाता है। दुखमोचन की भाभी ठीक ही कहती है कि, "अब वे छ आने माहवारी पर काम करना नही चाहती। जमाना तेजी से बदल रहा है बबुअन! और है भी तो यह पुराना रेट ।"[3] यह विरोध अर्थमूलक है और अर्थ ही इसके मूल मे है। भाभी आगे चलकर इससे सम्बद्ध कारणो मे बढ़ती महँगाई, फेशन-प्रवृत्ति, शहरी सभ्यता के संक्रमण आदि का भी बताती है। उच्च-वर्ग द्वारा निम्नवर्ग को हेय दृष्टि से देखना, उनका अपमान करना आदि भी वर्ग-विषमता का ही परिणाम है। दुखमोचन उपन्यास मे किया गया पचायत का यह फैसला "ऊँची जाति वालो के यहाँ अब वे अपमानजनक

---

1 नागार्जुन रतिनाथ की चाची, पृ0-95

2 नागार्जुन -बलचनमा पृ0-64

3 नागार्जुन - दुखमोचन पृ0-67-68

तरीकों से कोई काम नही करेगे, न कुछ इनाम–अकराम ही लेगे, जूठन मे चाहे अमृत ही क्यो न रह गया हो, उसे कोई नही उठायेगा ।"[1] ऊँच–वर्गों के प्रति निम्न–वर्ग का आक्रोश व्यक्त करता है।

लोकतान्त्रिक भारत मे नेता और सरकारी अफसरो के लिए गाँव देने के लिए अपेक्षित किन्तु प्राप्ति का मूल्यवान सन्दर्भ है। करोड़ो अशिक्षितों के वोट से जिला–बोर्ड, विधान सभा, लोक सभा के सदस्य चुने जाते है, आजीविका पाते है और राष्ट्र का नेतृत्व करते है। यश और ख्याति अर्जित करते है किन्तु ये नेता और अफसर दोनों ही गाँव का आर्थिक एव सामाजिक शोषण करते है अन्यथा वहाँ क्या हो रहा है इससे कोई सरोकार नही। सरकारी अफसरो का प्रवेश ग्राम–सीमा मे बहुत सीमित है, लेकिन जितना उससे इनका स्वार्थी रूप और इनकी सकुचित दृष्टि साफ हो जाती है। गाँव नेता और सरकारी अफसर दोनो की जकड में फँस गये है तथा अपनी विभिन्न विसगतियों की यातनाये सहते हुए टूट रहे है।

रेणु के "परती परिकथा" के परानपुर गाँव म लुत्तो जेसे स्वार्थी नेता है जो राई का पहाड और पहाड़ का राई क्षणो मे बना देते है। सरकारी मशीनरी अपने विकास–कार्यो की सही जानकारी भी गाँव वालो को नही दे पाती। सही कार्यो को गलत बताकर विद्रोह तक वे करा देते है। जित्तन का यह कथन एक वास्तविकता है, जिसके सहारे वे नेताओ का मुखोटा उतारते है, "मुझे ऐसा भी लगता है कि जान–बूझकर ही आपको अन्धकार मे रखा जाता है। क्योंकि आपकी दिलचस्पी से उन्हें खतरा है। इन कामो से आपका लगाव होते ही नोकरशाहो की मनमानी नही चलेगी। एक कप चाय पीने के लिए तीन गैलन तेल जलाकर वे शहर नहीं जा सकेगे। सीमेण्ट की चोर–बाजारी नही कर सकेगे। एक दिन मे होने वाले काम में एक महीने की बनाये ही कागज का पुल बनाकर बाद मे बाढ से पुल के बह जाने की रिपोर्ट वे नही दे सकेगे।"[2] परानपुर गाँव राजनीतिक चेतना प्रधान गाँव है। कई–कई राजनीतिक दल सक्रिय है लेकिन नेताओं के प्रश्रय में सरकारी लालफीताशाही, घूसखोरी, पक्षपात आदि सभी मनमाने ढग से चलते है। रेणु ने "जुलूस" म भी देवी–प्रकोपो के समय पब्लिक वर्करों की लाभ कमाने की स्थिति पर व्यग्य किया है जिसमे नेता और सरकारी अफसर भी मिले होते है।

---

1 नागार्जुन दुखमोचन पृ0–69

2 रेणु परती परिकथा पृ0–378

नागार्जुन के "वरुण के बेटे" का मलाही गाँव जमींदारी–उन्मूलन के उपरान्त जमीदारा के शोषण का अग बनता है जिसका मुख्य कारण सरकारी नोकरशाही, भ्रष्टाचार और कानूनी असगतियो ही है। बाढ आती है, जीवन आपदाओ से भर जाता है, तार पर तार जाते है लेकिन सरकारी मशीनरी सुप्त पडी रहती है। मछुआ सघ की स्थापना इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप होती है। मछुआ सघ की तरफ से कई मेमोरेण्डम पटना ओर दिल्ली के महाप्रभुओ की सेवा मे भेजे जा चुके थे, लिखित एव मोखिक दोनों प्रकार से जिला–अधिकारियो तक यह बात बार–बार पहुँचाई जा चुकी थी। लेकिन अकर्मण्यता एव जडता की स्थिति थी कि टूटने मे ही नही आती थी। सरकार तो चुनाव के अवसर पर तकाबी बाँट उसे चुनाव के बाद निरीहता स वसूलने में तत्पर थी। सरकारी नेता ओर उसकी मशीनरी इतनी अवसरवादी हो वो परिणाम क्या होंगे ? नागार्जुन के "बलचनमा" मे भूकम्प पीडित जनता मे राहत कोष से धन का वितरण किया गया। धन के वितरण मे नेता और सरकारी अफसरो के लूट को विधवा कुन्ती के कथन में यो अभिव्यक्त किया गया है," ये लोग जुलुम करते है बेटा, देते है दो और कागज पर चढाते है दस। इमान–धरम इनका सब डूब गया छोटे मालिक का सरवेटा आया था अफसर बनके खेरात बाटने। हो न हो हजार-पाँच सो उसने जरूर मार लिया होगा।

स्वतन्त्रता परवर्ती गाँव पुलिस की यातनाओ से कुछ अर्थों में मुक्त हुए है। पराधीनता के समय गाँव मे लाल पगडी के दर्शन बडे अनिष्टकारी थे। कुचक्रों की छाया से हर ग्रामीण बहुत घबराता था। नागार्जुन के "बाबा बटेसर नाथ" में पराधीन भारत की पुलिस का रूप उपस्थित है। ग्रामीण जनता दरोगा भीम झा को डकेतो का सरदार कहते थे। " दहशत, अकड, मक्कारी, जोर–जबरदस्ती आर प्रपच का अवतार समझा जाता भीमझा दारोगा। हमेशा कडक कर बोलता, तनी भोहे और कडी मूँछे उसकी आँखो मे आतक का सूरमा भरती"[1] और "जीन कसे घोडे पर टोपधारी सवार को देखकर लोग चोकन्ने हो जाते कि दरोगा आ रहा है। वह घूस तो नही लेता था मगर जार–जबरदस्ती काफी रकम ऐठ लेता था रियाया से ।"[2] रेणु के "मेला आँचल"

---

1 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0–103–104

2 नागार्जुन . बाबा बटेसरनाथ पृ0–103

मे पराधीन और स्वाधीन भारत की दोनो प्रकार की पुलिस के रूप उपस्थित है। पराधीन भारत की पुलिस अपने अंग्रेज मालिको के प्रति बहुत स्वामिभक्त थी। आजाद भारत की पुलिस भ्रष्टाचार आदि मे बुरी तरह फँस गयी है। बेचारे बावनदास जैसे पवित्रमना व्यक्ति को इस भ्रष्टाचार की कीमत अपना जीवन देकर चुकानी पडती है। पुलिस देखती रहती है और बावन–दास गाडी के पहियो के नीचे कुचल दिया जाता है। "ब्लैक–मार्केटिंग" मे पुलिस सहयोग कर रही है यहाँ पुलिस का जन विरोधी स्वरूप उभर कर सामने आता है।

*****

षष्ठम अध्याय

रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में लोक चेतना का आर्थिक आयाम

1 आर्थिक स्थिति
2 पंचवर्षीय योजनाएँ
3 कुटीर उद्योग
4 कृषि और विज्ञान
5 बेकारी और निर्धनता
6 मँहगाई
7 नगरोन्मुखता
8 भूमि सम्बन्धी विषमताएं एव जमीदारी उन्मूलन
9 चकबन्दी
10 भू–दान आन्दोलन

*****

षष्ठम् अध्याय

रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में लोक चेतना का आर्थिक आयाम

आधुनिक जीवन मे परिव्याप्त जटिलाएँ अर्थमूला है। व्यक्ति चारो ओर के आर्थिक दबावो, अनुभवो एव विविध सगति–विसगतिया के बीच से यातनापूर्ण यात्रा तय कर रहा है। देश की अर्थ–व्यवस्था सक्रमणकाल के विविध सन्दर्भो से गुजर कर राष्ट्रीय विकास की ओर गतिशील है। सतुलित अर्थ–व्यवस्था राष्ट्रीय–जीवन का प्रमुख आधार होती है। जीवन के बहुमुखी क्रियाकलापो का स्वरूप बहुश इसके समुचित क्रियान्वयन से होता है। किसी भी अर्थ–व्यवस्था की विकासशील स्थितियाँ ही वहाँ के लोक–जीवन मे चेतना उजागर करने का प्रबल माध्यम हुआ करती है। आज देश अपने पुन निर्माण मे व्यस्त है। जब तक देश की गरीब जनता को पेट भर भोजन, तन ढकने को वस्त्र और रहने को मकान नही मिलता, तब तक उनके जीवन मे आशा और उल्लास का प्रश्न ही नही उठता। व्यक्ति के व्यक्तित्व–विकास-हेतु समुचित शिक्षा, चिकित्सा एवं स्वस्थ मनोरजन के साधनों की उपलब्धि भी जीवन के आवश्यक उपादान है। जनतंत्र की वास्तविक भावना का सचार हमारे सामाजिक जीवन के अग प्रत्यंग मे कार्यशील होना चाहिए।

रेणु और नागार्जुन ने मिथिलाचल के सामान्य जनता की दयनीय आर्थिक स्थिति का सजीव अकन अपने–अपने कथा साहित्य मे किया है। रेणु और नागार्जुन की सजग एवं पैनी अर्न्तदृष्टि से सरकार द्वारा किये जा रहे ग्राम्य विकास की योजनाओं के दोषपूर्ण क्रियान्वयन ओझल नही हो पाते। इन विसगतियो को दूर करने का समाधान भी रेणु और नागार्जुन ने अपने कथा–साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

आर्थिक स्थिति:

आर्थिक दृष्टि से गाँव के लोगो की दशा अत्यन्त दयनीय है। रेणु के "मैला आँचल" के मेरीगज गाँव के लोग अत्यन्त दीन--हीन स्थिति मे है। "जिस जमीन पर उनके झोपडे है वह भी उनकी अपनी नही।"[1] वपरदे तो सारा गाँव हे कपडा अब कहाँ है ? रिचरब मे भी नही है। सिरिफ कफन और सराध का कपडा है उसी में से ?"[2] कपडे के बिना सारा गाँव अर्धनग्न है। मर्दो ने पैंट पहनना शुरू कर दिया है और औरते आँगन मे काम करते समय एक कपडा कमर मे लपेट कर काम चला

---

1 रेणु मैला आँचल पृ0–101

2 रेणु मैला आँचल पृ0–85

होती है। बारह वर्ष के बच्चे तो नगे ही रहते है।"[1]

रेणु के "परती परिकथा" के परानपुर गाँव क "घर की हालत किसी से छिपी–छिपाई नही अस्सी रूपेया माहवारी खर्च करने की ओकात अब इस गृहस्थी से उम्मीद नही।"[2] रेणु कृत "जुलूस" के "गाडिगर गाँव के अधिकतर निवासी घास–फूस ओर बाँस की झोपडियो मे रहते है। पवित्रा भी।"[3] ठाकुरतला भी एक झोपडे का ही नाम है जो गाँव वालो का देव स्थान (मन्दिर) है ओर जहाँ कीर्तन के अनन्तर गाँव ओर व्यकित की समस्याओं पर विचार–गोष्ठियाँ होती रहती है। इसके अतिरिक्त "गोडियर गाँव के ग्वालो के पास न भूमि है और न ही भैसे, गाय। व खेती और मजदूरी करके अपना पेट पाल रहे है।"[4] कुछ लोग तो चोरी करके ही जीवन–यापन करते है।"[4] योगेश दास को महिचन्दा कालोनी के कुछ बनिया का ऋण अदा करना है। दादी ठाकुरून ने चुपके से फड में से सो रूपये देकर उसका पिंड छुडाया था। बाद मे कालोनी की मीटिंग मे उसे जवाब देना पडा था बिना बूझे इतने रूपये क्या दिये गये ?[5] जब इतना अधिक अर्थाभाव है तो गाँव वाले इस अपव्यय को केसे सहन कर सकते है ? रेणु के "कितने चौराहे" मे अरा या कोट क लोगो की आर्थिक अवस्था भी बहुत ही गिर चुकी है। लोग अपनी गृहस्थी का भार पूर्णरूप से संभाल नहीं पाते जिसका उदाहरण मोहरिल मामा है जो विपन्नता के कारण ही मनमोहन के परिवार का सहारा लेकर अपनी घर गृहस्थी को आगे बढ़ाता है। आर्थिक विपन्नता के कारण ही लोग तग ओर घुटन वाले मकानो म जीवन यापन करते है। देश की आर्थिक अवस्था भी बहुत ही गिर रही है मँहगाई, अकाल, अनावृष्टि के मारे हुए किसानो पर जमीदारो का जोर जुल्म अत्याचार होता है।[7] इस प्रकार देश की स्थिति आर्थिक दृष्टि से क्षीण होती जा रही है।

---

1 रेणु मेला आँचल, पृ0–117
2 रेणु परती परिकथा पृ0–104
3 रेणु जुलूस पृ0–136
4 रेणु जुलूस पृ0–6
5 रेणु जुलूस पृ0–12
6 रेणु जुलूस पृ0–30–31
7 रेणु कितने चोराहे पृ0–121–122

नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" के रूपउली गाँव मे "साठ प्रतिशत परिवार ऐसे थे जिनका गुजारा मजदूरी पर निर्भर था। वे काम के लिए पड़ोस के कई गाँवो तक चले जाते।"[1] नागार्जुन के "वरूण के बेटे" के मलाहि गादियारी के मछुवारे निर्धन है। उनकी दशा को निरूपित करते हुए नागार्जुन ने सकेत किया है– "पुआल बिछे थे, कोने मे, उन पर फटी–पुरानी बोरी बिछी थी, एक जवान लड़की और नंग–धडग बच्चे बेतरतीब सोये पड़े थे। ओढना के नाम पर कथरी–गुदडी के दो–तीन छोटे–बडे टुकडे उन शरीरो को जहाँ–तहाँ से ढक रहे थे। दूसरे कोने मे चूल्हा–चोका। खुरखुन का समूचा ससार ही मानो तेरह फुट लम्बे और नो फुट चोडे घर मे अटा पडा था।"[2] वस्तुत मात्र गढ पोखर ही मछुओं के जीवन निर्वाह का साधन हे परन्तु गढपोखर पर जमीदारो का अधिकार है। इसीलिए उसके भिडो पर लगे बागो के वृक्षों का अधिकाश मे सफाया कर दिया जाता है। इतना ही नही "गढपोखर के हद के अन्दर पानी के चारो ओर लहलहाती फसले देखकर लोग कहा करते थे– दस–पाँच साल में अब गरोखर नही रहेगा। उथली–छिछली तलैया रह जायेगी यहाँ।"[3] इस चित्रण द्वारा मछुआरों के दीन–हीन दशा का चित्रण प्राप्त होता है।

अकाल, बाढ़ और बीमारी के दिनो मे गरीब किसाना की दशा ओर भी खराब हो जाती है। रेणु के "मैला आँचल" के मेरीगज गाँव की भोगोलिक स्थिति ओर आबोहवा ऐसी हे कि कालाजार ओर मलेरिया जैसी भयंकर बीमारियाँ यहाँ अड्डा जमाये रहती है। यहाँ आर्थिक दृष्टि से गाँव के लोगों की यह हालत हे कि बीमारी के दिनों मे "कफ से जकड़े हुए दोनो फेफडे, ओढने को वस्त्र नही, सोने को चटाई नही, पुआल भी नहीं। भीगी हुई धरती पर लेटा न्युमोनियो का रोगी मरता नहीं है, जी जाता है।"[4] नागार्जुन कृत "वरूण के बेटे" मे बाढ से पीड़ित जनता का सजीव अकन–बरबस हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्पित कर लेता है। "बाढ़ का पानी देहातों मे दूर–दूर तक घुस आया था। भाग–भागकर लोग रलवे की बाँध पर जा जुटे थे। लाइन पर पन्द्रह–बीस मील तक भीड़ ही भीड नजर आती। इधर उधर बिखरे

---

1 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0–20
2 नागार्जुन . वरूण के बेटे पृ0–10–11
3 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0–26
4 रेणु मैला आँचल पृ0–174

पडे घरेलू सामान, शिशुओं की रूलाई, बडे बच्चो की चीख पुकार, स्यानों की बातचीत, हुक्को की गुडगुडाहट, गीली लकडियो और अधसूखे उपलो का कडवा धुआँ, भीगे-भीगे मैले कपडों की दुर्गन्ध, उमसी पसीने की चिप-चिप कुल मिलाकर वातावरण घुटा-घुटा सा था।"[1] कोसी का जहरीला पानी बीमारियाँ काफी ले आया था हैजा और मलेरिया का ताण्डव आबादी को मसान बनाकर छोड जाता।"[2] नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" मे बाढ की भयकरता से रूपउली गाँव और उसके आस-पास के इलाके की सामान्य जनता संत्रस्त थी।" फसले डूब गयी, मैदान समुद्र बन गये। आस-पास के इलाको मे बहुत सारी बस्तियाँ कमर-भर पानी के अन्दर आ गयी। औरत मर्द सर-सामान और बाल-बच्चो को लिये-दिये भाग आए। बड़ी मुसीबत थी बेचारों के लिए। रोज मजदूरी करे, रोज खाए लेकिन उन दिनो तो सारे काम-काज बन्द पड़े थे। जमीन पानी के अन्दर थी तो वहाँ भला काम क्या होता ? दस-पाँच रोज किसी तरह उनका काम चला फिर फाके पडने लगे।"[3] खरीद-खरीदकर चावल-दाल जुटाने वालों के लिए और बेच-बेचकर धधा कमाने वालों के लिए वे बहुत बुरे दिन थे। दूसरो के खेतों में मजदूरी करके जीविका चलाने वालों का तो और भी बुरा हाल था। मामूली किसान चावल तो क्या जलावन के अभाव में खेसाड़ी और मसूर के दाने भिगो-भिगों करके चबाया करते थे। कुओ का पानी पीने लायक नही रह गया था लोग पटापट बीमार पड़ते थे। दवा दारू का कोई इन्तजाम नहीं मकई, मडुआ, सांवा-कावन की खड़ी फसले चौपट हो गयी। धान का बीआ (अकुर) पानी के अन्दर पड़कर सड गया। रोपे हुए धान के पोधे बर्बाद हो गये। बाढ के अन्दर दबी पड़ी फसलो के सडे सूखे दाने सुखा लिये गये थे। पेट में पहुँचते ही उन्होने अपना जहरीला असर फैलाना शुरू कर दिया, कुछ गरीब इससे मरे थे। बाढ़ के बचे-खुचे पानी मलेरिया के मच्छरो के लिए जच्चाखाना बन गये, उन्होंने बहुत दिनो तक यहाँ तबाही फैलाये रखी।"[4] नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" में अकाल के प्रकोप से सामान्य जनता सत्रस्त है। " भूख की भट्ठी मे सोचने और समझने की ताकत जल-भुनकर खाक हो जाती है लोग पिछले वर्ष की पकी ईटे उडा-उडाकर लाने जगे। घर मे ओरते ईट का चूरन बनाती पहले, पीछे उस चूरन का महीन

---

1 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0-70
2 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0-72
3 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0-78-79
4 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0-80-81

पिसान तेयार कर लेती। आम, जामुन, अमरूद, इमली, वगैरह की पत्तियाँ उबालकर पीस ली जाती। पाँच जने अगर खाने वाले हुआ करते तो ईट का एक सेर पिसान दो सेर उबली पत्तियो मे मिलाया जाता दूबो की जडे खुरपी से खोद लाते लोग, उबाल-उबाल कर उन्हे चबा जाते।"[1]

पंचवर्षीय योजनाएं

गाँव की आम-जनता की आर्थिक स्थिति-मजबूत करने के लिए भारत सरकार प्रयास कर रही है। स्वाधीनता प्राप्त होते ही राष्ट्र निर्माण की पचवर्षीय योजनाओ मे यथा सम्भव गाँव और उसकी विसगतियो को दृष्टि-मध्य रखा गया। यह एक अलग बात हे कि शताब्दियो से जर्जर इस ग्राम-जीवन के अभाव आज भी शेष हैं। ग्राम विकास से तात्पर्य ग्राम-जीवन की उन तमम गहा की विविध प्रकार की भोतिक-अभोतिक प्रगति से हे जो वहाँ के लोगो को नयी वेचारिकता-जन्य चेतना प्रदान करे। इसी को चेस्टर बोल्ट ने कहा है, "ग्राग-विकास से मेरा अभिप्राय केवल कृषि-सम्बन्धी विस्तार से नहीं, अपितु लघु-उद्यागा, विद्यालया, प्रशिक्षण केन्द्रो, उन्नत सचार साधनो, ग्रामो मे बिजली लगाने, सार्वजनिक स्वास्थ्य जनसख्या-नियमन केन्द्रो की वृद्वि से ओर यहाँ तक कि ग्रामीण सास्कृतिक चेतना को जमाने को जमाने से भी है।"[1] ग्राम का चहुँमुखी विकास ही उसके जीवन मे स्पन्दन उत्पन्न कर नयी मानसिकता प्रदान कर सकता है। हमारे गाँव परम्परावादी हे और उनकी परम्पराए उन्हें विकास-कार्यो की ओर बढने से रोकती है। अशिक्षा इसका मूल कारण है। शेक्षणिक-चेतना का प्रसार अभी पूरी तरह नही हो पाया है फिर भी आज ग्रामीण-परिवेश निरन्तर सामाजिक परिवर्तन की ओर अग्रसर है। रेणु और नागार्जुन ने ग्राम-जीवन के परिवर्तित प्रतिमानो, योजनाओ के प्रभावो ओर परिणामो को पहचाना ओर अपने-अपने कथा-साहित्य मे इस पहचान का अभिव्यक्ति दी।

रेणु के "मेला आँचल" का कथानक काल स्वतत्रता से केवल आठ-नो महीने बाद तक का है। भारत सरकार काई विशिष्ट योजना इतने शीघ्र सोच भी न पाई होगी लेकिन गाँधी जी का ग्रामा को ओर अटूट लगाव था। अत मेरीगज मे भी चर्खा सेण्टर खुल ही जाता है। काग्रेस का यह आर्थिक प्रोग्राम था ताकि

---

1 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0-55--56
2 चेस्टर बोल्ट न्याय्य समाज के मूलाधार पृ0-70

एक कर । बिखरी ताकत, जोडकर । पर्वत, पत्थर, तोडकर। इस डायन को साधेगे। उजडे को बसाना है ढक्कम–ढक्कम ढक्क–ढक्क! घटम घटम, घट–टिडिटक–टिडिटक ! ट्रैक्टरो और बुलडोजरो की गडगड़ाहट । लहरें पहाड़ खाती है। अट्टहास!।"[1]

मजदूरो की क्रियाशीलता का यह दृश्य–मजदूरो के दैनिक कठोर कार्यो का लेखा–जोखा प्रस्तुत कर उनके अभावो, दुख–दर्द एव विभिन्न विसंगतियों को उजागर कर उनकी उस जीवन्त शक्ति की कथा कहते है जो ज्ञात होकर भी आज अज्ञात है। उनके अभाव और उनकी व्यथा उनका जीवन–सगीत है जिसे कार्य करते हुए गाते हैं और राहत अनुभव करते है। तट–बाँध ही उनकी एक साध है जिसके आयोजन मे सरकार लाखो रुपया व्यय करती है। आर्थिक विकास के अग्रगामी प्रयत्न धीरे–धीरे और कही द्रुत गति से बढ़ रहे है। हजारो वर्ष पुरानी परती भी टूटती है लेकिन अभी गाँव के मानस की परती टूटने में नही आ पा रही है।" मन की परती ज्यो की त्यों पड़ी हुई है। वीरान होती जा रही है।"[2] रेणु की इस पंक्ति से ग्रामीण मोह भंग की स्थिति का अनावरण होता है। गाँव के आर्थिक आयोजन के परिणाम आज अभी स्पष्ट स्थिति मे है अत गाँव बहुत कुछ अपनी आशा–आकाक्षाओ में निराश हुए है।

कुटीर उद्योग

कुटीर–उद्योग भारतीय अर्थ–व्यवस्था की एक और महत्वपूर्ण दिशा है जिसे राजकीय उपेक्षा उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई। अंग्रेजो ने स्वार्थवश कभी इस दिशा में पग न बढ़ाये। हमारा कच्चा माल ही उन्हे अभीष्ट था और वे इसी के माध्यम से देश का शोषण करते रहे। कुटीर –उद्योगो की उन्नति और प्रसार एक ओर तो प्रगतिशील कृषि–व्यवस्था और दूसरी ओर अग्रसारित औद्योगिकता के लिए अत्यन्त सहायक है। योजना आयोग के प्रथम पचवर्षीय योजना के निर्माणकाल में ही इसे अनुभव किया कि ग्रामीण विकास–कार्यक्रम मे ग्रामीण उद्योगो का केन्द्रीय स्थान है।

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0–393
2 रेणु . परती परिकथा, पृ0–371

ये कुटीर–उद्योग सामान्यतया श्रमिकों के घरा मे ही चलाये जाते है। इनका उत्पत्ति का पैमाना छोटा होता है ओर संगठन नहीं के बराबर होता है ताकि वे स्थानीय माँग की पूर्ति कर सके। बिजली और शक्ति किसी का भी कोई उपयोग नही होता। यह ग्राम–जीव मे व्याप्त बेकारी अथवा अर्द्ध–बेकारी का बहुत बढिया समाधान है। आज ग्रामीण युवको मे बेकारी संक्रामक रोग की भाँति फेल रही है। कुटीर–उद्योग ओषधि का कार्य कर सकते है लेकिन ग्राम–जीव के इस सन्दर्भ मे आशातीत प्रगति दृष्टिगोचर नही होती।

रेणु के "जुलूस" मे कुटीर उद्योगो के प्रति आकर्षण को अभिव्यक्त किया गया है। ग्राम–निवासियो के मन पर तालेवर गोढी के धान कूटने की मशीन की तुत–तुत, तुत–तुत अपना प्रभाव छोड रही है। लोगों की मानसिकता मे कुटीर–उद्योगों की ललक उत्पन हो रही है। इसका प्रमाण हमें पवित्रा से कहे गये जयराम सिध के इस कथन मे प्राप्त है कि "दीदी जी मेरे पास जमीन कहाँ ? हाँ, मालिक की खेती की बात पूछती है तो खेती अच्छी होती है। और खेती अच्छी हा या खराब, मालिक को इससे क्या ? एक मिल अररिया कोट मे भी चलायेगे। अब खेती क्या है ? "विजनेस" ओर "मिल" चलाने वाले के हल अस्मान मे चलते है।"[1] जयराम सिध गाँव के अन्य लोगों की मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है। आज वह समझता है कि कृषि से उद्योग अधिक लाभकर है तभी तो वह पवित्रा से यह कहता है।

नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" मे स्वतत्रता पूर्व काल मे अंग्रेजो की स्वार्थपूर्ण नीति के परिणामस्वरूप गाँवो मे कुटीर उद्योगा के तीव्र ह्रास को अभिव्यक्त किया गया है। "चमार जूते बनाना भूल गये। मोमिनों के पाँच करघे थे सो अब एक ही रह गया। चीनी की आमद ने गुड के व्यापार को चौपट कर दिया। बटन, सुई, आईना, कघी, उस्तरा और केची––– कपड़े, खेती के ओजार––– बाहरी माल आ–आकर स्थानीय उद्योग धन्धो का गला दबाने लगे। तेजी और मन्दी के दो पाटों में पडकर अनाज का एक–एक दाना ही नही गाँव का एक–एक आदमी कराह उठा बेटा। बर्तन मे पानी तो पहले जितना आता था लेकिन छेद उसमे एक के

---

1 रेणु जुलूस पृ0–146

बदले अनेक हो गये थे।।"[1] नागार्जुन ने कुटीर उद्योगो के ह्रास के साथ ही सृजन की ओर भी सकेत किया है।" इस अपूर्व ध्वस-लीला के साथ ही रोजगार की कुछ नई सूरते भी निकल आयी थी। नये ढग से तालीम पाये हुए आदमियो का एक नौकरीपेशा बाबू-तबका और आपसी भेद-भाव भूलकर अनोखी मशीनों के जरिये नये तौर-ओ-तरीको से काम करने वाले मजदूरो का एक सर्वहारा-वर्ग अस्तित्व मे आ चुके थे।"[2]

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" मे भी गाँवो मे कुटीर उद्योग के अनवरत ह्रास को अभिव्यक्त किया गया है।" वह तकली कातने लगी किर्र-किर्र । मिथिला की कुलीन ब्राह्मणियो के जीवन मे इस तकली का बहुत बड़ा स्थान रहा है। कुटीर शिल्प का यह मधुर प्रतीक अब तो उठता जा रहा है फिर भी जनेऊ के लिए तकली से निकले इन बारीक सूतो की आवश्यकता अनिवार्य समझी जाती है। फुर्सत का वक्त स्त्रियाँ तकली के सहारे बहुत आसानी से काट लेती है। आठ-दस वर्ष की उमर से लेकर जीवन पर्यन्त तकली का और उनका साथ रहता है। कहते हैं ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के पहले घर घर मे तकली चलती थी। तकली के काम आते परन्तु महीन सूत मलमल बुनने के काम आते परन्तु अब तो यह वस्तु ब्राह्मणो के ही घरों रह गयी और इन सूक्ष्म और मनोहर सूतो का उपयोग सिर्फ जनेऊ तक सीमित रह गया है।"[3] ग्रामीण जनता की आर्थिक स्थिति कुटीर-उद्योगो की स्थापना से ही सुदृढ़ हो सकती है। नागार्जुन के "बलचनमा" उपन्यास मे सीतलपट्टी वालों की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति का एक मुख्य कारण कुटीर उद्योग भी है। "यहाँ के जुलाहे खेती के अलावा अपना बखत तानी-भरनी और करघो के सहारे गुजारते थे। उनके टोले मे दस करघे चल रहे थे। दरभंगा-समस्तीपुर से सूत लाकर वे चादर, अँगोछा, तहमद-लुंगी, चारखाना वगैरह तैयार करके पास-पड़ोस के हाटो या नजदीकी बाजारों में बेच आते। बीसो जवान जुलाहे ढाका और कलकत्ते रहकर अपने गाँव की खुशहाली का बढा रहे थे। सच पूछो तो इन जुलाहो ने उस बस्ती का ढाँचा ही बदल रखा था।"[4] गाँवों मे कुटीर उद्योगो की उन्नति और चतुर्दिक प्रसार होने का

---

1 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ, पृ0-95
2 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0-95
3 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0-95
4 नागार्जुन बलचनमा पृ0-107

नागार्जुन को पूर्ण विश्वास है। गरीबदास उपन्यास मे फुलेसरी के माध्यम से नागार्जुन ने अपने इस विश्वास को अभिव्यक्त किया है। "फुलेसरी भगत की ओर देखती हुई कहने लगी, "इस बस्ती के ही नही समूचे हरिनगर के लिए बहुत बड़ा शुभ समाचार छपा है। अगले पाँच वर्षो के अन्दर बीस लाख रूपये की लागत से बीसों छोटे-छोटे धंधे यहाँ चालू होगे।"[1] ग्राम विकास-कार्यो की ओर सरकार की दृष्टि बहुत कुछ कागजी है, अन्यथा गाँवों का आर्थिक स्वरूप आज बहुत कुछ उन्नतशील होता।

कृषि ओर विज्ञान

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। ग्राम-जीवन मे इसका प्रभाव व्याप्त है। विज्ञान के अन्वेषको ने ज्ञान के नये नये सन्दर्भो एव सीमान्तों को खोजा है। नगर-जीवन के भारी उद्योग मे सहायता के पश्चात कृषि कर्म की ओर भी इसकी अभिरूचि जगी जिसका श्रेय पश्चिमी जगत् को है। लकडी के हलों से बेलों के कधो पर जुआ रख हल जोतने की प्रणाली के स्थान पर ट्रेक्टर आ गया है। सिचाई के लिए चरस, रहट, बम्बे आदि साधन पुराने ही नही अपर्याप्त बनकर रह गये है। ट्यूबवेल, पम्पिंग सेट, नहर योजना एव पाताली कुओं के माध्यम से सिचाई का प्रबन्ध किया जा रहा है। शक्ति और पेसे दोनो की बचत के अलावा कार्य में निरन्तर गतिशीलता बनी रहती है।

कृषि मे विभिन्न प्रकार की नवीन प्रविधियाँ प्रयोग में आने लगी है। प्राचीन पारम्परिक प्रणाली अत्यधिक श्रम साध्य एव महगी है लेकि बहुत दूर तक अभी वही प्रणाली प्रचलित हे जिसके मूल मे गरीबी, प्राचीन परम्पराए, अशिक्षा और निर्धनता है। कृषको की आर्थिक अवस्था अभी इस स्थिति मे नही पहुँच पाई है कि वे इन वेज्ञानिक ससाधनो का प्रयोग सरलता से कर पाये। हल जोतना, सिंचाई करना बीज बोना फसल काटना, अनाज अलग करना आदि सभी कार्य मशीन से होने लगे है।

---

1 नागार्जुन गरीबदास, पृ0-85

विज्ञान अपने–आप मे प्रगति का एक चिन्ह है लेकिन भारतीय सन्दर्भो मे इसकी तालमेल कुछ कम बेठती हे, क्योकि यह जनशक्ति की बचत करता हे जबकि हमारे यहॉं जनशक्ति बहुतायत में विद्यमान है। अत कृषि–कर्म मे वेज्ञानिकता का उद्घाटन राष्ट्रीय हितो को दृष्टि में ही रखकर किया जाना चाहिए। गॉंधी जी इसी के पक्षपाती थे। " जो वस्तु एक दशा में स्थित किसी एक राष्ट्र के लिए भली है वह आवश्यक नही कि दूसरी दशा मे स्थित किसी अन्य राष्ट्र के लिए भी भली हो। भारत को अपनी एक अलग ही अर्थ–व्यवस्था और अपनी अलग ही नीति का विकास करना होगा।"[1] प्रगति का लक्ष्य राष्ट्र है अत राष्ट्रीय सन्दर्भ ही मूल्यवान है।

सिचाई एवं अन्य वेज्ञानिक प्रविधियों के कारण "रेणु" के "परती परिकथा" का गॉंव अपने मे सास्थानिक परिवर्तन समाहित किये हुए है। परानपुर की धूल–धूसरित कोसी योजना के सिचाई–साधनो की ही उपलब्धि का ही परिणाम है कि 500 वर्षो से बेकार पड़ी हुई परती धरती बन जाती है। परती की छाती पर लहलहाती फसलो को देखकर जित्तन अन्दर ही अन्दर सोच रहा है।" बीरान धरती का रग बदल रहा है, धीरे–धीरे--- हरा, लाल, पीला, बैगनी। हरे–भरे खेत। परती पर रंग की लहरे! बधुआ से थाम थाके मोर, बंधुआ से थाम थाके ए ए! डी0 डी0टी0 की बासुरी रगों को सुर प्रदान कर रही है। अमृत हास्य परती पर अंकित हो रहा। पॉंच चक नाच रहे है। घन घन घन घन!। पंडुकी का जित्तू उठ गया पडुकी नाच–नाचकर पुकार रही है– तुत–तुत–तुत–तुत तुत!! पिपही शहनाई बजने लगी।"[2] बीरान धरती के ऊपर लहलहाती गुलाब की खेती का दृश्य बडा ही सार्थक बन पड़ा है, जो इस बात का साक्षात प्रतीक हे कि श्रम एवं साधना के बल पर हर असम्भव बात भी संभव हो सकती है।

"रेणु" के "मैला ऑंचल" के गॉंव मेरीगज मे भी खेती के यन्त्रीकरण के चिन्ह प्राप्य है। गॉंव के तहसीलदार विश्वनाथ इस ओर पहल करने वाले है। उन्होने खेती बारी के विकास हेतु ट्रेक्टर खरीदा है ताकि वे प्रभावशाली ढंग से कृषि कार्यो को गति दे सके। ट्रेक्टर के विषय मे गॉंव वालो ने बेतार की वाणी सुनी है, "उसी

---

1 चेस्टर बोल्ट न्याय्य समाज के मूलाधार पृ0–28–29
2 रेणु परती परिकथा पृ0–393

मे सब कुछ होगा– हल चोगी, विधा कोडकमान, कही गोरा भोर धनकटनी भी। आदमी की क्या जरूरत ?"[1] और तो और अब तो वहाँ पम्पिंग सेट से ही सिचाई के कार्य भी होने की चर्चा है। ट्रैक्टर नवीन प्रविधियों का द्योतक है। आदमी के श्रम की इसके माध्यम से बचत होगी। गाँव वालों की जानकारी में तो ये वेज्ञानिक साधन है लेकिन उनके साथ समस्या पैसे की है। वहाँ तो गाँव मे एकाध व्यक्ति तहसीलदार जेसे लोग ही खरीद सकते है। ये मशीने आम–आदमी की पहुँच से दूर है। अत ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था में अभी इनका प्रवेश नगण्य है।

बेकारी और निर्धनता

लोक जीवन में व्याप्त बेकारी ओर तज्जय निर्धनताके मुख्य कारण है– जनसख्या मे निरन्तर वृद्वि, भूमि की सीमितता, प्राकृतिक साधनों पर ही बिल्कुल आश्रित होना, कुटीर–उद्योग–धन्धों का अभाव एव कृषि का परम्परा आश्रित होना। स्वतत्रता–प्राप्ति के पश्चात् देश–विभाजन एव अन्य सामाजिक एवं आर्थिक कारण उत्पन्न हुए, जिन्होने लोक–जीवन में बेकारी ओर निर्धनता को ओर भी अधिक प्रश्रय प्रदान किया है। रेणु ओर नागार्जुन ने गाँव के इन अभिशापों को बड़ी गहराई से समझा है और उनकी तमाम विसंगतियों एवं बारीकियों को बड़े ही मनोयोग से प्रस्तुत किया है जिनसे गाँव का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित होता है।

"रेणु" के "मैला आँचल" का गाँव मेरीगज अनन्य जडताओ का शिकार एवं अभावो का विपुल भण्डार है। डा0 प्रशान्त इस गाँव में आकर बडा आश्चर्य चकित होता है, जब वस्त्रो के अभाव में निमोनिया के रोगी को पुआल मे सिर छुपाते हुए देखता है। रोगी छाती पर कफ की जकड़न लिये जिन्दगी से निरन्तर सघर्ष कर रहा है। डा0 प्रशान्त के मन मे अनेकों प्रश्न उठता है और वह उन अनुत्तरित प्रश्नों की यातनाये सहता रहता है। इसी प्रकार का प्रसंग उसके समक्ष उपस्थित होता है, "आम से लदे हुए पेड़ो को देखने के पहले उसकी आँखे इंसान के उन टिकोलों पर पड़ती है, जिन्हे आम की गुठलियो के सूखे गूदे की रोटी पर जिन्दा रहना है ।"[2] गाँव मे गरीबी

---

1 रेणु मैला आँचल पृ0–299

2 रेणु मैला आँचल पृ0–174

की स्थिति बेकारीजन्य है। बेकारी ने लोगों को सिसकने के लिए बाध्य कर दिया है, काम के अभाव में रोना ही उनके भाग्य में लिखा है।

नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ " के रूपउली गाँव की आर्थिक स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। बेकारी का ज्वर वहाँ भी फेला है। लोग आजीविका के लिए संत्रस्त है। उन्हें घर ही नहीं, सब कुछ छोड़ा पड़ता हे क्योकि वहाँ केवल "साठ प्रतिशत परिवार ऐसे थे जिनका गुजारा मजदूरी पर निर्भर था। वे काम के लिए पड़ौस के कई गाँवो तक चले जाते ।"[1]

मंहगाई

महगाई के बढते ज्वर ने ग्रामों को मरणासन्न बना दिया है। इसके मूल मे बढती हुई जनसंख्या एवं गिरते हुए नैतिक प्रतिमान है। गिरते नैतिक प्रतिमान से तात्पर्य दायित्वहीनता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति से है। मँहगाई लोक-जीवन को तोड़ने के साथ-साथ एक आक्रोश भी उत्पन्न कर रही है ओर बहुत संभव है यह आये दिन का आक्रोश भयावह सामाजिक व्यवस्था का रूप धारण कर क्रान्ति की ओर अग्रसर हो जाय, क्योंकि आज का आम व्यक्ति चारों ओर से दुखी, निराश ओर टूट रहा है और फिर स्वाभाविक भी है कि टूटता हुआ आदमी तोड़ने की प्रक्रिया में ही प्रवृत्त होगा। रेणु के मेला आँचल के मेरीगंज गाँव के लोग मंहगाई से पीड़ित है। मंहगाई से गाँव का धनी वर्ग ने फायदा उठाया जबकि गरीब व्यक्ति और गरीब होता गया।" अनाज के ऊँचे दर से गाँव के तीन ही व्यक्तियों ने फायदा उठाया- तहसीलदार साहब ने, सिध जी ने ओर खेलावनसिह यादव ने। मजदूरों को सवा रूपये रोज मजदूरी मिलती है लेकिन एक आदमी का भी पेट नहीं भरता। पाँच साल पहले सिर्फ पाँच आने रोज मजदूरी मिलती थी और उसी में घर-भर के लोग खाते थे।"[2]

---

1 नागार्जुन· बाबा बटेसरनाथ पृ0-20

2 रेणु मैला आँचल पृ0-117

<u>आजीविका की खोज और तज्जनित कुंठाएँ</u>

लोक-जीवन के विभिन्न स्तरो मे बेरोजगारी रूढ़ परम्परा-सी बन गयी है। कही यह दृश्य है और कहीं अदृश्य। बेरोजगारी के ही कारण ग्रामीणों को रोजी-रोटी के प्रश्नसे जूझना पड़ता है। ग्रामो मे समृद्ध-वर्ग आजीविका देने के बदले उनका रक्त ही नही पीता अपितु उनकी स्त्रियो की लाज तक से खेल खेलता है। रोजी रोटी की खोज ही ऐसा प्रश्न है जिसके कारण आज गाँव टूटकर शहरों मे समा रहे है। अतीत के जमीदार आज भी गाँवो मे अपना लुटा हुआ दम्भ सजोये बैठे है और निम्न-वर्ग के मजदूरो पर यथाशक्ति अत्याचार कर रह है। इन अत्याचारो का उनकी मानसिकता एव वैचारिकता पर अत्यधिक प्रभाव पडता है और उनके जीवन मे विभिन्न कुठाएँ जन्म लेती है। लोक-जीवन का रस इन कुंठाओ ने विषाक्त बना दिया है और आज वहाँ मजदूर वर्ग न रहना चाहता है और न रह सकता है।

"रेणु" के मैला आँचल में जागरूक मजदूर -वर्ग की प्रतिक्रिया तब स्पष्ट होती है जब वे जमींदारों की ज्यादतियो के खिलाफ मेरीगज के तंत्रिया टोले में पचायत करते है और यह फैसला करते है, "कि तत्रिमा टोले की कोई औरत बाबू टोलन के किसी आगन में काम करने नही जायेगी। बाबू-बबुआन लोग शाम को गाँव मे आवें कोई हर्ज नही। किसी की अन्दर हवेली में नहीं जा सकते। मजदूरी मे जो एक आध सेर मिले, उसी में सबो को सतोष करना होगा। बालाई आमदनी म कोई बरकत नही।"[1] नेता कालीचरण की यह बात शत-प्रतिशत सत्य है कि पूँजीपति और जमींदार खटमलो और मच्छरों की तरह मजदूरों का रक्त चूसते हैं।

नागार्जुन के "वरूण के बेटे" का टुन्नी जो कोसी योजना मे भूँजा-फरही की पोटली बाँधकर मजदूरी करने गया था वह बेचारा दो दिन का भूखा कपड़े उतरवाकर ही लोटता है। सरकारी व्यवस्था की यही नियति है। दिन-प्रतिदिन नये-नये बाबू आते गये और वह कार्य करता रहा, पहले द्वारा लिखा नाम दूसरे को न मिला और दूसरे का तीसरे को और वह भूल-भुलैया में पडा काम करता रहा। और यह रोजी रोटी की खोज कितनी पीड़ाजनक सिद्व हुई यह उसके अपने कथन से ही यों अभिव्यक्त

---

1 रेणु मेला आँचल पृ0-67

है।" मिट्टी काटते–ढोते बारह दिन बीत गये, छदाम का भी दरसन नहीं हुआ। उधार खाते, दाल, नमक, हल्दी, मिर्ची, ईधन देने वाला दुकानदार भला क्यों छोडने लगा? कुदाल रख ली, टोकरा रख लिया, धोती तक उतरवा ली। कमर से गमछा लपेटे दो दिन दो रात का भूखा मैं घर लौट आया हूँ। इतना कहकर टुन्नी ने लम्बी साँस ली और धरती छूकर दोनों कान छू लिये।"[1] टुन्नी की यह व्यथा–कथा जहाँ सरकारी व्यवस्था पर व्यग्य करती है वहाँ ग्राम–जीवन की उन स्थितियो की ओर भी सकेत करती है जिसके कारण टुन्नी जेसे अनेक ग्रामीणो को रोजी–रोटी की तलाश में घर छोडना पड़ता है ओर अनेक यातनाओ से साक्षात्कार करना पडता है।

नगरोन्मुखता

प्रत्येक राष्ट्र की जीवन शक्ति का स्रोत उसके गाँव हुआ करते हैं। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति वही से होती है। भोजन, वस्त्र ऐसी आवश्यकताये है। जिनकी पूर्ति हम प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष गाँव से ही करते हैं। भारत जेसे कृषि–प्रधान देश की तो स्थिति ही दूसरी है। गाँव देश का शरीर है तो नगर उसका मस्तिष्क। आज देश के गाँवो का विघटन बुरी तरह हो रहा है। गाँव की गाँव की शक्ति शहरो की ओर आकृष्ट हो रही है। सुख–सुविधाओ, शिक्षा–स्रोतो एवं रोजी–रोटी के लिए गाँवो की अपेक्षा शहर सुविधाजनक है। इसके अतिरिक्त एक मूलभूत कारण है गाँवों मे कृषि कार्यो की अपर्याप्तता एवं मजदूरी का बहुत कम होना। आज के वर्तमान जीवन मे कितनी मँहगाई है कुछ कहते नही बनता। डेढ–दो रूपये का गाँव का मजदूर अपने सारे परिवार का भरण–पोषण केसे कर सकता है। अत ग्रामवासियो का शहरों की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक है।

गाँव के मजदूर शहरों की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। "रेणु" के "मैला आँचल" का सुमरित दास गाँव वालों को एक जुट मिल घुलने का समाचार देता है। उसके अपने कथन से ही नगरीकरण की प्रवृत्ति का परिचय मिल जाता है यद्यपि इसके

---

1 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0–35

मूल मे भी मुख्य प्रश्न आजीविका का ही है।" कटिहार म एक जूट मिल और खुला है। तीन जूट मिल ? चलो दो रूपया मजदूरी मिलती है। गांव मे अब क्या रखा है।"[1] गाँवो मे एक कहावत भी प्रचलित है जिसका आशय है अनाज के देश मे रहना चाहिए न कि बाप के देश मे। जहाँ रोजी-रोटी नहीं वहाँ रहना व्यर्थ है। सुमरित दास के कथन का भी यही आशय है।

नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" के गाँव रूपउली की भी विषम स्थिति है। वह भी निरनतर टूटन-प्रक्रिया से ग्रस्त है। मजदूरो की स्थिति ऐसी है कि उन्हे गाँवो से शहरो की ओर उन्मुख होना पड़ता है, क्योकि गाँव मे, "साठ प्रतिशत परिवार ऐसे थे जिनका गुजारा मजदूरी पर निर्भर था, वे काम के लिए पडोस के कई गाँवो में चले जाते, पच्चीस-पचास आदमी शहरो मे कुलीगीरी या दूसरे मामूली काम करके यहाँ अपने परिवारों की जीविका चलाते थे। गन्ने का सीजन आता तो दस-पाँच जने चीनी के कारखानों मे अस्थायी काम पा जाते।" नागार्जुन के "वरूण के बेटे" के मलाही गाँव के टुन्नी जेसे मजदूर भी आजीविका हेतु गाँव छोडते है लेकिन बेचारे वहाँ से भी निराशा और कुण्ठाए लेकर ही लोटते हैं। नागार्जुन के "दुखमोचन" मे भी गाँव के मजदूर लोग बाढ से विनष्ट फसल के कारण गाँव छोडने को विवश हो जाते है।" अधिकाशत खेत-मजदूर रोजी-रोटी की तलाश मे अपना-अपना इलाका छोडकर पूरब-पश्चिम जाने वाली रेलगाड़ियो पर सवार हो चुके थे।"[2]

भूमि सम्बन्धी विषमताएं एवं जमीनदारी उन्मूलन

स्वातन्त्र्योत्तर ग्रामीण-जीवन मे जमीदारी-उन्मूलन एक प्रगतिशील कार्यक्रम का शुभारम्भ है। पहले जमींदार ही गाँव के आर्थिक जीवन का नियन्ता होता था। भूमि सामाजिक प्रतिष्ठा, राजनीतिक गारव प्रदान करने वाली वह अचल सम्पत्ति थी जिसके आधार पर वह ऐश्वर्य एवं विलासपूर्ण जीवन बिताया करता था। भूमि सम्बन्धी विषमता की तो बात यह है कि एक मालिक होता था बाकी

---

1 रेणु मेला आँचल, पृ0-299
2 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0-20-21

सभी उसके नौकर–चाकर के रूप मे कार्य करते थे। वह मध्यम और निम्न जातियों के लोगो को काश्त के लिए भूमि दे दिया करता था और मनमाने ढंग से लगान और बेगार वसूल करता था।

जमींदारो को राज्याश्रय प्राप्त था क्योंकि लगान का एक हिस्सा सरकार को भी तो मिलता था। अत जमींदार और काश्तकार में तनाव पेदा हुए और कृषि की दशा निरन्तर बिगड़ने लगी, क्योंकि काश्तकारों मे कृषि के प्रति अभिरूचि एव प्रोत्साहन ही नही था। जमींदारी उन्मूलन कृषक वर्ग मे स्वामित्व की भावना जगाने वाला वह कदम है जिससे कृषक–वर्ग मे चेतना जगे तथा वह सरकारी प्रोत्साहन पा, साधन उद्यम और नवीन प्रविधियों से लेस हो कृषि की प्रगति में संलग्न हो। रेणु और नागार्जुन ने जमीदारी–उन्मूलन ओर उसकी प्रभाव–परिणतियों को वाणी दी है।

"रेणु" के "परती परिकथा" मे जमीदारी-उन्मूलन के उपरान्त भी बिहार के परानपुर गाँव मे तृतीय श्रेणी के किसान भी पाँच–पाँच सो बीघे जमीन हथियाये बेठे है। बडे जमीदारों की तो बात ही क्या है। गुरूवंशी बाबू दस–दस हजार बीघे जमीन के साथ–साथ दो–दो हवाई जहाज तक रखते थे। भोला बाबू के पास 15 हजार बीघे जमीन है और डेढ़ दर्जन ट्रेक्टर । इतनी–इतनी सम्पदा जहाँ एक–एक जमीदार दबाये हो वहाँ शोषण का रूप क्या होगा सोचा जा सकता है।" जमीदारी–उन्मूलन के बाद भी हर साल फसल काटने के समय एक–डेढ सो लडाई–दगे और चालीस–पचास कत्ल होते रहे तो फिर से जमीन की बन्दोबस्ती की व्यवस्था की गयी ।"[1] गाँव मे "लैण्ड सर्वे" क्या हुआ आफत आ गयी। विविध वर्गो मे आपस में तनाव आ गये। धरती के ऊपर और तो और एक ही परिवार के कई–कई दावेदार बन गये।

नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" के गाँव रूपउली में जमीदारी–उन्मूलन का लाभ भी यही जमीदार उठाते दृष्टिगत होते हैं। छोटे–छोट किसान यथापूर्व ही रह जाते है। जमीदारो ने सार्वजनिक उपयोग की धरती तक को किसानो को बेच डाला और राजनीतिक सत्तारूढ दल में प्रविष्ट

---

1 रेणु- परती.परिकथा पृ0–25

हो वहाँ भी अपना हित संपादन करने लगे। तभी तो, "यह आजाद सरकार इन सामन्ती श्रीमन्तो को ज्यादा–से–ज्यादा हरजाना देने की तिकडमे भिडा रही है।"[1]

कृषि–जगत की आधार–शिला किसान और मजदूर है। इन्ही दोनों के सहयोग से गाँव की मिट्टी अन्न उगलती है। दोनो ही श्रमजीवी है। अन्तरमात्र भूमिधर और भूमिहीन का है जो एक को मालिक और दूसरे को मजदूर बना देता है जबकि वास्तव मे दोनो एक ही श्रेणी के दो व्यक्ति है। भूमिधर किसान और भूमिहीन मजदूरो की चिन्तन–धारा में स्वतन्त्रता के पश्चात् नये मोड आये है। आज का मजदूर कल के मजदूर से भिन्न है। मुरव्वत नाम की उसके पास कोई वस्तु अब नही है। उसका सम्बन्ध शुद्व आर्थिक बनता जा रहा है। अपनी अशिक्षा के कारण गाँव मे अभी थोड़ी–बहुत परम्पराएं निबाहता है लेकिन जब उसे शहरी परिवेश की हवा लग जाती है तो उसका दृष्टिकोण शुद्व भौतिक हो जाता है। रेणु और नागार्जुन ने इनके बदलते स्वरूप को ठीक–ठीक पहचाना है।

रेणु के "मैला आँचल" के मेरीगज मे खेतिहर–मजदूर अब अपनी मजदूरी के प्रति जागरूक है। राम किरपाल सिंध को उसका हलवाहा स्पष्ट शब्दों मे कह देता है कि बगैर मजदूरी लिये काम पर नही आयेगा। बात भी ठीक है अन्तत ये लोग भी परिवार वाले है आखिर कहाँ से रोटी खायं। साल–साल कहीं मजदूरी छोड़ी जाती है। काग्रेसी बालदेव को जब गोनाय ततमा की शिकायत की जाती है तो वह भी कुछ नही बोलता। अन्त मे जब बोलता है तो मजदूरों का ही पक्ष लेता है, "गरीब लोगो का दामाहा नहीं रोकना चाहिए, भाई साहब।"[2] भूमिधर किसानो की स्मृतियों में आज भी जमीदारीं युग की यातनाए शेष है अत वे लोग भी विभिन्न कष्ट देकर अपना अहम् की परितुष्टि करना चाहते है।

नागार्जुन के "दुखमोचन" मे पानी भरने वाली मजदूरिने "छ आने माहवारी पर काम नहीं करना चाहती। जमाना तेजी से बदल रहा है। देहात मे भी अब चीज–बस्त के दर–भाव खूब ऊँचे चढ गये है। पुराने

---

1 रेणु– परती.परिकथा पृ0–25

2 "रेणु" मैला आँचल पृ0–66

जमाने की महरियाँ नही है ये कि चार–छ आने महीने वारी पर तुम लोगो के तलवे सहलाती रहेगी नारियल का खुशबूदार तेल और प्लास्टिक की लम्बी कघी उनके घरो मे भी पहुँच चुकी है, बबुअन। इनके घरो के भी मर्द रेल और स्टीमर पर सवार होकर कलकत्ता हो आते है। उन्होंने भी अपनी मेहनत का रेट बढ़ाने का इरादा कर लिया है।"[1] और "देहाती मजदूरों के भाई–बन्दो ने अपनी पचायत मे फैसला किया कि ऊँची जातवालो के यहाँ अब वे अपमानजनक तरीकों से न कोई काम ही करेगे, न कुछ इनाम–इकराम ही लेगे। जूठन मे चाहे अमृत ही क्यो न रह गया हो, उसे कोई नही उठायेगा ।"[2]

नागार्जुन के "बलचनमा" उपन्यास में बलचनमा मे जमीदार के शोषण के विरूद्व तीव्र आक्रोश है जो उसके स्वय के कथन से अभिव्यक्त होता हे "बेशक! मे गरीब हूँ। तेरे पास अपार सम्पदा है, कुल है खानदान है और मेरे पास कुछ नही है। मगर आखिरी दम तक मै तेरे खिलाफ डटा रहूँगा। अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध मे लगा दूँगा।"[3] नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" मे भी रूपउली गाूव की सामान्य जनता शोषण के विरूद्व एकजुट हो जाती है। "पोखर की कछार पर समूची बस्ती का अधिकार है। "कछार में या मिड पर हल नहीं चलेगा" लोगो ने एक स्वर से कहा। भीड़ में सभी तरह के लोग है पण्डित शशिनाथ ठाकुर है हाजी करीमबक्स है मोसम्मात झुनिया है खेतिहर हें बनिहार है, हलवाहे–चरवाहे हें– कौन नहीं हैं ?"[4] नागार्जुन के "वरूण के बेटे" मे मलाही गोढियार के मछुवे अपने हक के लिए सगठित होते है। हंक की लड़ाई जीतेंगे। जीतेगे! गढपोखर हमारा है हमारा है! "[5]

---

1 नागार्जुन दुखमोचन पृ0–67–68
2 नागार्जुन दुखमोचन पृ0–69
3 नागार्जुन बलचनमा पृ0–64
4 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0 133–134
5 नागार्जुन· वरूण के बेटे पृ0–99

<u>चकबन्दी</u>

चकबन्दी सरकार द्वारा आयोजित विभिन्न भूमि–सुधार कार्यक्रमो में वह कार्यक्रम हे जिसके माध्यम से ग्रामीणों के बिखरे हुए खेतों का एक स्थल पर एकीकरण कर दिया जाता है। सिद्वान्तत यह बात मस्तिष्क मे रखी जाती है कि यदि एक भू–स्वामी के एक स्थान पर अधिक खेत हे तो उसके समस्त खेतों के बदले उसी स्थान पर खेत दे दिये जाते है। चकबन्दी का उद्देश्य सघन खेती का विकास करना है। इससे श्रम की बचत एवं सुरक्षा निश्चित हो जाती है। एक कृषक एक समय पर कम श्रम से अधिक उत्पादन कर सकता हे दूसरे उसे अलग–अलग खेतो पर भटकना नही पड़ता। कृषि की स्थायी उन्नति इसके माध्यम से सभव है। वह एक स्थान विशेष पर सिचाई आदि के साधन भी जुटा सकता है। एक अन्य लाभ चकबन्दी का यह है कि छोटे–छोटे खेतो मे बँटे भूखण्डा की सीमाओं पर मेड़ लगती है उसमे देश की करोडो बीघा धरती बगैर उत्पादन के सीमाबन्दी के चक्कर मे व्यर्थ पड़ी रहती है। उस धरती का भी उत्पादनार्थ उपयोग हो जाता है। गाँवो मे विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं मे यह कार्यक्रम गतिशील हुआ है।

रेणु के "परती परिकथा" के गाँव परानपुर मे उन भूमि सुधारो के दर्शन होते है। परानपुर की धरती "का लेड सर्वे" क्या प्रारम्भ हुआ वहाँ तो अमीनो की फौज ही आ गयी। गाँव के बच्चे–बच्चे भी "बाउण्ड्री" मुरब्बा, किश्तबार, तनाजा, तसदीक, दफा तीन, छे, नौ आदि से तो परिचित हुए ही नये–नये प्रकार के तनावों में भी उलझ गये। देखते–देखते छह महीने में सारे परानपुर का हुलिया बदल गया। बाप–बेटे, भाई–भाई का शाश्वत प्यार समाप्त हो गया और अपने–अपने अधिकार को लेकर ऐसी लड़ाइयाँ प्रारम्भ हुई, जिन्हें अजीब ही कहा जा सकता है।" बडे–बड़े इज्जतदारों की हवेली मे बन्द घूघंटो मे छिपी बवा ओरते पर्दे को चीरकर आगे बढ आई है। अपने नाबालिक बंशाधरों की उँगलियाँ पकड़ खडी है – हजूर! देखा जाय। जरा इन्साफ किया जाय हुजूर। इसका बाप कमाते–कमाते मर गया। कोल्हू के बेल की तरह सारी जिन्दगी खटते–खटते बीती और खाते मे कहीं भी उसके लड़के का नाम नहीं। नाम दरज कर लिया जाय हुजूर!"[1] चकबन्दी ने समस्त पारिवारिक सम्बन्धो

---

1 रेणु· "परती·परिकथा" पृ0 26–27

मे तनाव उत्पन्न कर एक नयी मानसिकता गाँव को प्रदान की है।

चकबन्दी के तात्कालिक लाभो को छोडकर इसके दूरगामी प्रभावो मे भारतीय सयुक्त परिवार एक बाधा के रूप मे उपस्थित होते है। पारिवारिक विघटन के साथ भूमि भी विविध भूखण्डों मे बँटती है। और आज लाखो-करोड़ो रूपया व्यवस्था पर व्यय करने के बाद धरती फिर विभिन्न उपखण्डो में बँट जायेगी। अत चकबन्दी भूमि समस्या का स्थायी सुधार नही कहा जा सकता। बढ़िया तो यह है कि सरकार समस्त ग्राम की भूमि का स्वामित्व अपन हाथ में ले लें और सामूहिक फार्म के रूप में कृषक-परिवारों को देती रहे लेकिन उन परिवारों का यह बिल्कुल अधिकार नहीं होना चाहिए कि फिर वे उसे पैतृक सम्पत्ति के रूप मे बाँटे। पचायतें सरकारी स्तर पर इन फार्मो का कार्य-भार सभाल सकती है।

भू-दान आन्दोलन

आचार्य विनोवा भावे द्वारा प्रचलित भूदान-आन्दोलन एक गैर सरकारी आन्दोलन है जिसका लक्ष्य सामाजिक न्याय एव सर्वहित की भावना है। इसका प्रारम्भ 18 अप्रेल 1951 मे हुआ और अब तक भारत के कोने--कोने में इसका प्रचार पहुँच गया है। इसके अन्तर्गत आचार्य भावे गाँव--गाँव जाते है और जिनके पास जमीन हे उसका 1/6 भाग दान में स्वेच्छा से माँगते हे और फिर दान मे मिली समस्त भूमि को गाँव के भूमिहीन-वर्ग मे वितरित कर दिया जाता है। इस आन्दोलन मे भूमि के अलावा श्रम-दान, ग्राम-दान, सम्पत्ति-दान, गृह-दान बुदि-दान, जीवन-दान भी होते है। रेणु और नागार्जुन ने अपने कथा-साहित्य मे इस आन्दोलन का थोडा बहुत चित्रण किया है।

"रेणु" के परती परिकथा में भूदान-आन्दोलन काग्रेस और समाजवादियो के पारस्परिक कलह में बुरी तरह फँस जाता है। गरूण झा तो उन्हे कान्हे कोढ़ी और पागल ही कहता है जबकि सरवन सिह का छोटा भाई लालचन दस-पन्द्रह लठैतों को लेकर उन पर हिसन करने पर उतर आता

है। तारा बाबू लट्ठ पड़ते ही सिर पर झोली रख बेठ गय, अमीन साहब जरीब की कडी लेकर भाग खडे हुए और, "भूदानियों पर लट्ठ पडने लग– साला! पहले सर्वोधन। साला सरब सोधन। और लो ब्योरा। बाँटो जमीन अपने बाप की। तडातड। तड़ातड!! राम लखन जी धरती पर लोट गये। लुत्तों को एक भी लाठी नही लगी। तारा बाबू के गिरते ही वह भागा।"[1] राजनीति–प्रधान परानपुर गाँव मे चेतना हिसात्मक आई क्योकि पारस्परिक दुराग्रहवश इसके साथ राजनीति को जोड दिया गया। अन्यथा भावे और कांग्रेस में मूलभूत अन्तर है तथा भूदानी–आन्दोलन कोई सरकार द्वारा प्रचलित आर्थिक कार्यक्रम नहीं है।

नागार्जुन के "वरूण के बेटे" उपन्यास में श्रमदान की कृत्रिमता पर व्यग्य किया गया है। कोसी के किनारे श्रमदानियो के महत्व के कारण जंगल मे मगल हो जाता है। उनको हर सुविधा प्रदान की जाती है। भूदान और श्रमदान दान न रहकर दिखावा बनकर रह गये। गाँव के लोग तो अपने कर्तव्य मे निष्ठावान है लेकिन शहरी लोगों का चेहरा अवश्य स्पष्ट हो जाता है।" खाते–पीते परिवारो के शौकिया श्रमदानी सज्जनों की बात ही ओर थी। उनकी सुविधा के अनेक साधन कोसा किनारे जुट गये थे। चाय-बिस्कुट, पान-सिंगरेट, शर्बत, मिठाई, पूडी–कचौड़ी, चूड़ा–दही, रेडियो, सिनेमा, रिकार्ड, माइक लाउडस्पीकर अखबार और पत्रिकायें पास–पड़ोस के परिचित काग्रेसी नेताओ की सिफारिश से पटना या दिल्ली से आये ऊँचे पदाधिकारी के साथ भीड मे खड़े हो जाते और फोटो खिच जाती। इन लोगों का श्रमदान क्या था, बेठ–ठाले का अच्छा–खासा मनारजन था।"[2]

श्रमदान–सम्बन्धी उपरोक्त वक्तव्य मे ग्रामवासियों की निष्ठा तो है यह एक अलग बात है कि उस भीड में निहित स्वार्थ वाले लोग भी है जिनका उद्देश्य फोटो खिचवाने तक सीमित रहता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भूदान की इस भावना मे दान भावना का उचित रूप दृष्टिगत नहीं होता।

---

1 रेणु परती.परिकथा, पृ0–247

2 नागार्जुन "वरूण के बेटे" पृ0–34

जमीदार अपनी उसी जमीन का दान करते है जो उनकी दृष्टि मे बेकार है। और जब वे उस बेकार जमीन को भी उपजाऊ बनता पाते हे तो उनके मन की बात खुल जाती हे जिसका परिचय नागार्जुन के ही ओर उपन्यास "उग्रतारा" में प्राप्त है। भभीखन सिह जमीदार को सम्बोधित करता हुआ कहता हे, "यह आदत बहुत खराब हे बाबू साहब, रद्दी-फद्दी औरों के लिए, मालटाल अपने लिए बडे लोगो की नीयत इतनी छोटी क्यो होती है?"[1]

गाँव की पिछडी हुई आर्थिक दशा को देखकर तथा उसको उन्नत बनाने के लिए रेणु जी ने विभिन्न सस्थाओ की स्थापना के द्वारा उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है। "एक बार वहाँ जाकर देखिए- इसपिताल, इस्कूल, लड़की इस्कूल, चर्खा सेण्टर, रायबरेली? क्या नही हे वहाँ? घर-घर में ए0बी0सी0डी0 पास।"[2] चर्खा सेण्टर में सिर्फ चर्खा कर्धा ही नही है। बूढे लोगो को पढाया जाता है। ओरतों और बच्चो को मास्टनी पढाती हे ओर बूढो को मास्टर जी ।"[3] "गाँव में तो रोज नया सेण्टर खुल रहा हे- मलरिया सेण्टर, काली टापी सेण्टर लाल झडा सेण्टर और अब यह चरखा सेण्टर।"[4] "रेणु" के परती परिकथा मे "कोसी योजना द्वारा सबसे बड़ी पेचीदा समस्या हल हो गयी है। दुलारीदाय को कोसी की मुख्य धारा से सयुक्त करके सिर्फ करोडों रूपये की बचत ही नहीं, करोड़ों की आमदनी भी होगी।" अत "युग-युग के बाद एक-एक प्राणी पाप से मुक्त होगा प्राणों मे नये रग उभरेगे।"[6]

नागार्जुन भी गाँवों को आर्थिक रूप से सुदृढ देखना चाहते हे जो बाबा बटेसरनाथ मे इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है, "खाना ओर कपड़ों की तगी न रहे, सभी लिख-पढ जायँ, बाहर जाने-आने की सुविधा मिले, काम ओर आराम का बदस्तूर सिलसिला हो, मनोरंजन के साधन सुलभ रहे तो फिर इन देहातों का ढाँचा ही बदल जायेगा। आलस, पिछडापन, अभाव, अशिक्षा, अस्वास्थ्य, गन्दगी आदि दुर्गुण हमेशा नही रहेगे।"[7]

*****

---

1 नागार्जुन उग्रतारा पृ0-21
2 रेणु मेला आँचल पृ0-36
3 रेणु मेला आँचल पृ0-137
4 रेणु मेला आँचल पृ0-116
5 रेणु "परती परिकथा" पृ0-371
6 रेणु परती परिकथा पृ0-392
7 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0-66

सप्तम अध्याय

रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में लोक चेतना का धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयाम

1 धर्म–परिवर्तित रूप
2 ईश्वरवाद
3 क्षीण होती धार्मिक आस्था और विज्ञान
4 उदात्त, जीवन–मूल्यों के प्रति विश्वास
5 धर्म की अशक्तियाँ

 1 वाह्याचार
 2 रूढ सत्यो की चिन्तनहीन स्वीकृति
 3 भूत–प्रेत
 4 मनोतियाँ और भौतिक स्वार्थपूर्ति

6 धर्म के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोंण
7 सास्कृतिक आयाम प्राचीन एव नवीन संस्कृति मे सघर्ष
8 सास्कृतिक पर्व एव त्योहार
9 मेले
10 कीर्तन एवं कथा–वार्ता आदि धार्मिक कृत्य
11 लोकगीत
12 लोक नृत्य
13 लोक कथाएँ
14 लोक नाट्य
15 शैक्षणिक चेतना

*****

सप्तम अध्याय

रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य में लोक चेतना का धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयाम

धर्म एक शक्ति भी है और विश्वास भी। इसकी धारणा अमूर्त और अति प्राचीन है। इसके स्वरूप चिन्तन मे कल्पना का योग अनिवार्य है। हमारा अतीतकाल धार्मिक दृष्टि से गौरवमय रहा है और उसके नियम शाश्वत नियमों की भाँति समाज मे मान्य रहे हैं। "सास्कृतिक मान्यता प्राप्त विभिन्न पवित्र विश्वास ही धर्म है जो मानव समाज को अपनी पूर्व पीढ़ियो से सामाजिक विरासत के रूप मे प्राप्त होते हैं। उसी के आधार पर अपने जीवनक्रम को निर्धारित करते है एव आकस्मिक आपदाओ को सहन करने का सम्बल प्राप्त करते है।"[1]

धर्म-परिवर्तित रूप

लोक-जीवन मे धर्म आज परिवर्तन की प्रक्रिया में है, उनके दृष्टिकोंण में परिवर्तन के कारण है- विज्ञान, शिक्षा तथा परिवर्तित समाज व्यवस्था। धर्म की केन्द्रीय सत्ता पर विज्ञान अधिकार करता जा रहा है।" कई धर्म, धार्मिक कट्टरता की स्थिति मे अब भी सकपका रहे हैं और कुछ इस कट्टरता को त्याग कर धर्म-निरपेक्षता की ओर अग्रसर है।"[2] वस्तुत इसे संक्रमण की स्थित कह सकते है। डा० राधाकृष्णन ने ऐसी ही स्थिति के लिए कहा है।" चारों ओर सब जगह हमे वस्तुओ के टूटने-फूटने और सामाजिक, राजनीतिक ओर आर्थिक सस्थाओं में परिवर्तनों की, प्रमुख विश्वासो और विचारों में, मानव-मन की आधारभूत श्रेणियो में परिवर्तन की आवाज सुनाई पड़ रही है।"[3] लोक-जीवन में मन्थर गति से आ रही इस

---

1 डा० मृत्युंजय उपाध्याय हिन्दी के आँचलिक उपन्यास पृ०-96

2 डा० ज्ञानचन्द गुप्त स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना पृ०-189

3 डा० राधाकृष्णन धर्म और समाज पृ०-7

परिवर्तनशील–चेतना के मूल मे वे समस्त जड परम्पराएँ मूढ विश्वास एव गतिहीन मान्यताएं हें जिन्होंने लोक–मानस को अपनी पकड़ मे बुरी तरह फॉंस रखा था। रेणु और नागार्जुन ने धर्म के परिवर्तित प्रतिमानो को पहचानने का प्रयास किया है। लोक–चेतना की धार्मिक विचार–सरणियो में परिवर्तन मुख्यत स्वतत्रता के पश्चात आया है। देश में धर्म–निरपेक्ष गणतत्र की स्थापना ने लोक मानसिकता को नये वेचारिक आयाम दिये।

ईश्वरवाद

दूसरी ओर ग्रामीण जनता को पूरा विश्वास है कि कोई अज्ञात, अनादि, अनन्त शक्ति सबका संचालन और नियमन कर रही है। ग्रामीण जनता का ईश्वर मे अतिशय विश्वास है। जलाभाव में वर्षा के लिए, तो जलाधिक्य मे वर्षा बन्द करने की प्रार्थना की जाती है। वर्षा का होना न होना इन्द्रानुग्रह पर निर्भर समझा जाता है। सृष्टि के आदि काल मे भी भय, अज्ञान के कारण देवी–देवताओ की अधिकता थी। वहॉं अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी सबके लिए अलग–अलग देवता थे। मैला ऑंचल के मेरीगज गॉंव की जनता के वर्षा–सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में "रेणु" का कहना है– "हर साल बरसात के मौसम में यही होता है। भगवान के हाथ की बात इंसान क्या जाने? इन्द्र भगवान से प्रार्थना की जाती है– बरसाओ! हे इन्द्र महाराज जरा भी आसमान के किसी कोने में काले बादलो का जमाव हुआ, बिजली चमकी, कि "बरसो, "बरसो की पुकार घर–घर से सुनाई पडती है। जमीनवालों, बेजमीनों सबो की रोटी का प्रश्न है। और यदि लगातार पॉंच दिन तक घनघोर बरसा हुई और खेतो के आल डूबे कि जरा एक सप्ताह सबुर करो महाराज! ग्राम के ततमा टोला, पासवान टोला, धानुक–कुर्मी टोला तथा कोयरी टोला की औरतें हर साल ऐसे समय मे इन्द्र महाराज को रिझाने के लिए, बादल को बरसाने के लिए "जाट–जट्टिन" खेलती है।

नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" मे इन्द्रदेव को प्रसन्न करने के लिए "रूपउली बस्ती के ब्राह्मणों ने मिट्टी के ग्यारह लाख शिवलिंग बनाये और

उनकी सामूहिक पूजा की उन्होंने, फिर भी मेघ की कृपा नहीं हुई ग्वालो, अहीरो और धानुकों ने यहीं चार दिनों तक भुइयाँ महाराज का पूजन किया, दस भेड़े बलि चढ़ाई और दो जवान भाव खेलते-खेलते लहूलुहान होकर गिर पडे थे फिर भी राजा इन्द्र खुश नहीं हुआ एक रात मर्द जब सो गये तो गाँव-भर की औरते दस-पन्द्रह गुटों में बँट गयीं। तालाब से मेढक पकड लाये गये, उन्हे ओखलियों में मूसलों से कुचला गया। गीतो मे बादल को बुलाती रही, देर तक बुलाती रही लेकिन मेघ नहीं आया- नहीं आया। नही आया।।"[1]

नागार्जुन के दुखमोचन में अग्निदेव के कोप को शान्त करने के लिए "कटोरी मे चिउडा भिगोकर और उसमें दही-चीनी मिलाकर मामी ने सुखदेव को थमा दिया, अग्निदेव के उद्देश्य से यह छोड़ दें। सुखदेव ने " ओ अग्नये स्वाहा", ओ अग्नये स्वाहा" कहकर पाँच-सात बार वह अन्न अग्नि की तरफ फेका। मामी माथा झुकाकर और दोनो हाथ जोड़कर कहने लगी-दुहाई महाराज की। घर-गृहस्थी तो लोगो की स्वाह कर ही डाली आपने, जान न लेना किसी की। मेरी इत्ती-सी प्रार्थना मजूर करना। देखना अग्नि महाराज। "[2]

ईश्वर की प्रसन्नता के लिए गाँव की सामान्य जनता बहुत से देवी-देवताओ की उपासना करती है तथा उनकी पूजा करने वाले पण्डों, पुजारियों तथा साधुओ के प्रति श्रद्धा रखती है। नागार्जुन के "दुखमोचन" में दुखमोचन की "मामी बारह महीने सुबह सुबह पिण्डी की शक्ल मे स्थापित कुलदेवी दुर्गा की पूजा करतीं। फिर अपनी इष्ट देवी "काली" का एक अक्षर वाला बीज मंत्र" "क्लीं" जपती थी, हजार बार। आखिर में एक-एक सा अध्याय चण्डी और गीता।"[3] रेणु के "मैला आँचल" मे तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद काली थान के सामने आने पर श्रद्धापूर्वक सिर पर टोपी रखकर काली माँ को प्रणाम करते है।[4] रेणु के परती परिकथा के परानपुर गाँव की जनता परती भूमि पर निर्वसित परमा देवता की पूजा करती है क्योकि परमादेव सभी की मनोकामना पूरी कर सकते है।[5] बारह-बारह साल की काग बाँझो को बच्चा दिया है

---

1 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0 54-55
2 नागार्जुन . दुखमोचन पृ0 110-111
3 नागार्जुन दुखमोचन पृ0-26
4 रेणु मैला आँचल पृ0-10
5 रेणु परती परिकथा पृ0-93

परमादेव ने। अब तो लोगो को किसी बात पर परतीत नही। बेजू की बहू को याद है, आँचल मे केला और अमरूद गिरा। दूसरे दिन सुबह से ही उसको मिचली आने लगी। गले हुए गोढी करिया सामू को परमादेव के बाक ने आराम दिया।[1] सम्पूर्ण परानपुर गाँव, परमा देवता की पूजा करता है।

रेणु के "मैला आँचल" मे भण्डारे से पहले काली धान की पूजा की जाती है।[2] कलीमुद्दीपुर मे नागर नदी के किनारे चौरघट्टा के पास साहुड़ के पेड़ की डाली से लटकती हुई बावनदास की खद्दर की ओली के अवशेष लाल डोरी को कोई दुखिया वृद्धा चेथरिया पीर समझकर अपने आँचल का कोई घूँट फाडकर बाँध देती हे और पीर देवता से मनोकामना पूर्ण होने की आशा करने लगती है।[3] खेलावन सिह यादव की पत्नी अपने बच्चे की मति सुधरवाने के लिए पीर बाबा से प्रार्थना करती है। "खेलावन की स्त्री कहती है जिन पीर बाबा के दरधा पर घर नही है, वहाँ एक झोपडी बनाने के लिए तीन साल से कह रही थी, आखिर नहीं बनाए। कालीचरन के बात पर फुच्च हो गये, चोखड़ा घर बनवा दिया। दुहाई बाबा जिन पीर! भुल–चूक माफ करो। मेरे बच्चा का मति फेर दो महतमा! सिरनी ओर बद्धी चढ़ाऊँगी, एक भर गाँजा दूँगी।"[4]

क्षीण होती धार्मिक आस्था और विज्ञान

धार्मिक सन्दर्भ में लोक–जीवन मे आस्तिकता का अर्थ धार्मिक आस्था से है। आस्था और क्रिया धर्म के मुख्य उपादान है। दोनो के समन्वय बिना धार्मिक साधना सम्भव नहीं। आस्थाहीन क्रिया बाह्याडम्बर और क्रियाहीन आस्था बुद्धि विलास कहलाता है। गाँव के सामाजिक जीवन पर धर्म का गहन प्रभाव है। धर्म उनके व्यवस्थित जीवन का मार्ग प्रशस्त करता हे तथा उनमे अलोकिक शक्ति के प्रति विश्वास जगाता है। उनके जीवन का कोई अंग ऐसा नही जो धर्म के रंग मे रगा न हो। उनका पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन सभी कुछ धार्मिक भावना से परिचालित होता है। उनके मनोरंजन के साधन भी धार्मिक भावना से जुड़े हैं। धर्म से ही ग्रामीण घोर आपदाओ एव सकट के बीच नैतिक बल प्राप्त करते है। उनके

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0–94
2 रेणु मैला आँचल पृ0–41
3 रेणु. मैला आँचल पृ0–304
4 रेणु मैला आँचल पृ0–254

जीवन मे ईश्वर के प्रति अटूट आस्था है जिसके कारण जीवन–गति की अनिश्चतताएँ, उत्कठाएँ, बाधाएँ उन्हें परेशान नही करती ओर काल के गाल में जाकर भी निरन्तर सघर्ष को ही प्रेरित करती है। परन्तु युगानुरूप परिवर्तन की लहर गाँवों मे भी पहुँची है। फलत धार्मिक आस्तिकता का सुरक्षित रहना सम्भव नहीं रह गया है। नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" का रतिनाथ, मजदूर कुल्ली राऊत के साथ जाते समय मार्ग मे पडे तालाब मे बडी फुर्ती से सध्या–कर्म करता है। कुल्ली राउत उस तेजी से किये साध्य कर्म पर सोचता है ओर आखिर रतिनाथ से कह ही देता है– "तुम तो नील माधव के वंशधर हो, तुम्हे इतनी जल्दी नही करनी चाहिए।"[1] इसके प्रत्युत्तर में रतिनाथ का कथन है कि, "अरे, यहाँ कौन देखता है? देखना, चलकर तरकुलव में, घण्टा भर नाक न दबाये रहा, तो जो कहो।"[2] एक ही जगह दो चिन्तनधाराओ के दर्शन होते हैं– एक आस्थावादी है तो दूसरा आडम्बर–प्रिय। रतिनाथ साध्य–कर्म को अपनी आत्मिक शान्ति हेतु धार्मिक कृत्य मानकर नही करता। लगता है एक परम्परा गले लग गयी है ओर उसे लगे के कारण निभा रहा है। कुल्ली राउत सध्या–कर्म न करके भी आस्तिक है ओर उसमे आस्तिकता के लक्षण विद्यमान है।

मठ और मन्दिरो मे भी अनैतिकता का बोलबाला हो गया है। रेणु के "मैला आँचल" में मेरीगज स्थित मठ इसका उदाहरण है। महन्त सेवादास अन्धा होकर भी रखलिन रखता है। बगेर लक्ष्मी के उसका निर्वाह नही। मुजफ्फरपुर के पुपड़ी मठ से आए साधु लरसिंघदास की तो हालत ही ओर है। सारी रात लक्ष्मी को पाने की फिराक मे रहता है। प्रात काल उसके स्नान करते समय उसे बाँस की टट्टी मे छेदकर देखता है। उसके प्रति घृणा और आक्रोश से भरा लक्ष्मी का कथन ध्यातव्य है– "रामदास"। लक्ष्मी गरज उठती है, "गरदनियाँ देकर निकाल दे इसको। यह साधू नही राक्षस है। इसके सिर पर माया सवार है। इससे पूछो आज सबेरे जब मै स्नान कर रही थी तो बाँस की टट्टी मे छेदकर के यह क्या देखता था? सेतान।"[3] फरेबी लरसिंघदास महन्ती संभालने का गठबन्धन बड़ी चतुरता से कर लेता है।

---

1 नागार्जुन· रतिनाथ की चाची पृ0–54

2 नागार्जुन रतिनाथ की चाची पृ0–54

3 रेणु. मैला आँचल पृ0– 64

ईश्वर पूजा का स्थान मठ गन्दगी का नरक बन गया है। रामदास भी कम नही है। उसने अपनी वासनापूर्ति के लिए रमपियरिया को रख लिया। गाँजा पीकर खूब उसकी मिट्टी खराब करता है, मारपीट करता है। "साला, इन्हीं लोगों के पाप से धरती दलमला रही है भरस्ट कर दिया। अब वह मठ है? लाल बाग मेला की मीना बाजार हो गया है। दस–दस कोस का लुच्चा–लफगा सब आकर जमा होता है।"[1] जहाँ रामदास महन्थ जैसे गुरू और साधु होगे, उस गाँव का क्या होगा, यह सोचा जा सकता है। ईश्वरीय आस्था और आस्तिकता पर बड़ा–सा प्रश्नचिन्ह लग गया है। वास्तव में मठ, मदिर धार्मिक वाहचारो के अड्डे बन गये है।

गाँव का वर्तमान धार्मिक एवं सास्कृतिक जीवन सास्थानिक परिवर्तनो के कारण गतिशील हुआ है। विज्ञान ने उन्हें नये–नये साधनो के साथ नई वैचारिकता प्रदान की है जो भौतिकता पर आधारित है। गाँव का धार्मिक मन भौतिकता–ग्रस्त होकर नवीनता और प्राचीनता के द्वन्द्व मे फँस गया है। अशिक्षा, अज्ञान, अधविश्वास एवं रूढ परम्पराएँ उसे अपनी ओर खींच रही है तो वैज्ञानिकता के उन्मेष ने, नवीन सुख–सुविधाओ के आधार पर उसे अपनी ओर आकृष्ट किया है। गाँवो की स्थिति सक्रमण–काल की स्थिति है। अत गाँव मे धार्मिक आस्थाओ का कही विघटन हुआ है तो कहीं नवीन प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही है। रेणु और नागार्जुन ने उचित परिस्थितियों के सन्दर्भ मे गाँव की टूटती हुई आस्थाओं का आकलन किया है।

नागार्जुन के "नई पोध" के जोखा पण्डित की आमदनी पर भी इस आस्था की टूटन का प्रभाव पडता है। गाँव मे कथा, कीर्तन, पाठ वगैरह कोई नही करता। अत पण्डित जी का यह कहना बिल्कुल समीचीन है कि, "अब तो खैर सर्धा–विश्वास कम हो गया, पहले मगर भागवत से काफी आमद थी।"[2] नागार्जुन के "बलचनमा" मे बलचनमा का ईश्वर पर से विश्वास उठता जा रहा है जो उसके स्वय के कथन से परिलक्षित होता है। "भगवान कहाँ से ब्योत करेगे? चोरी हम करेगे नहीं, डाका हम डालेगे नहीं, घर मे भूँजी भाँग नहीं। आगे–पीछे कोई खोज–खबर लेने वाला नही है। तो फिर भगवान बाकी कौन उपाय करेंगे।"[3]

---

1 रेणु मेला आँचल पृ0–300
2 नागार्जुन नई पोध पृ0–8
3 नागार्जुन बलचनमा पृ0–84

लोक जीवन मे आई वैज्ञानिकता ने लोक–चेतना को नये–नये सन्दर्भ दिये हैं। लोक–जीवन के प्रमुख व्यवसाय कृषि मे विज्ञान ने प्रवेश ले लिया है, सचार–साधन आदि विकसित होने से अन्य सुख–सुविधाएँ भी वहाँ उपलब्ध हो रही है। अत उनकी अन्तश्चेतना मे बहुआयामी जागृति आ रही हे जिसके कारण धार्मिक कृत्यों एव परम्पराओ का अवमूल्यन हुआ है। रेणु के "परती परिकथा" का परानपुर गाँव धार्मिक कृत्यो और परम्पराओ के प्रति उदासीन है। नये नोजवानो की नजर मे ये सब रूढिग्रस्त समाज की बेवकूफी के उदाहरण है।" परमादेव की सवारी के दिन, गाँव मे चांचल्य। रघ्घू रामायनी की गीत–कथा के समय, शामाँ–चकेवा की रातो में, बन्द मन के झरोखे जरा खुले थे। जात्रा, सकीर्तन, नाटक के अवसरो पर आनन्द से सारा गाँव फूँला–फूला रहता। और अब?"[1] कहाँ है आज का कोई उपयोगी उत्सव–अनुष्ठान? प्रीति–बन्धन के खोये हुए सूत्र को खोजकर निकालना होगा। नहीं तो इस सार्वभोम रिक्तता से मुक्ति की कोई आशा नही।"[2]

उदात्त जीवन–मूल्यों के प्रति विश्वास

भारतीय जीवन और उसकी सस्कृति ने धर्म की अभिव्यक्ति प्रमुख रूप से हुई है। धर्म उदात्त मूल्यों में विश्वास और उन मूल्यों को उपलब्ध कराने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक है। इसकी शक्ति एवं सीमाओं की परिधि अति विशाल है। धर्म मनुष्य को सामाजिक विरासत में मिला वह पवित्रतम विश्वास है जिसे सांस्कृतिक मान्यता प्राप्त हे तथा जिसके सहारे वह जीवन के विविध क्रिया–कलापो का क्रम निर्धारित करता हे तथा सश्लिष्ट समस्याओ से जूझने का सबल प्राप्त करता है। असत् कार्यो से सत् कार्यों की ओर प्रेरित कर मनुष्य को अभ्युदय एव नि श्रेयस की प्राप्ति कराना धर्म का मान्य लक्ष्य है। महान् उददेश्यो की प्राप्ति मे महत् कार्यो की सफल परिणति, स्वार्थमय जीवन की अपेक्षा परार्थमय गुणो की प्रतिष्ठा मानव–धर्म की शक्तियाँ है, जिनकी प्राप्ति हेतु मनुष्य को बधुत्व, सेवा, त्याग, प्रेम, ईमानदारी, सहानुभूति आदि मूल्यों को व्यवहार में उतारना पड़ता है।

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0–351
2 रेणु परती परिकथा, पृ0–351

धर्म के बाहरी आवर्तो (देवी-देवता पूजा आदि) के साथ ही मानव-धर्म के उदात्त मूल्यो की ओर भी रेणु और नागार्जुन की सजग दृष्टि रही है। "रेणु" के "मैला आँचल" का बावनदास सत्य और ईमनदारी की रक्षा मे भ्रष्टाचार के खिलाफ हिन्दुस्तान ओर पाकिस्तान की सीमा पर जान देता है। गाड़ी के पहियो के नीचे बेचारा कुचल दिया जाता है। नागार्जुन के "वरूण के बेटे" का मोहन माँझी और "दुखमोचन" का दुखमोचन मानवीय मूल्यो के प्रति सजग है और दोनों अपने-अपने गाँव की कल्याणकारी योजनाओ मे बडे उत्साह से कार्य करते हैं। रणु के परती परिकथा का जितेन्द्र और नागार्जुन के "बलचनमा" का बलचनमा उदात्त जीवन-मूल्यों मे विश्वास करते हे परन्तु अपने-अपने गाँव मे ये सभी अकेले है और इसी अकलेपन के ही कारण उनका यह विश्वास अनन्त यातनाएँ सह रहा है।

धर्म की अशक्तियाँ

वर्तमान युग में धार्मिकता की भावना बहुत कुछ ऊपरी वस्तु बन गयी है। आत्मा से इसके सम्बन्ध टूट गये हे। धर्म दिनो-दिन अशक्त होता जा रहा है, जीवन मे भौतिकतावादी आग्रह आता जा रहा है। धर्म यदि कहीं शेष है तो उसमे उसकी अशक्तियों के ही दर्शन होते है। लोक-जीवन के सन्दर्भ मे यह बात और भी सच हे कि वहाँ वाह्याचार, छुआछूत, जातीयता, रूढ़ सत्यों की स्वीकृति, देवी-देवताओ की स्वार्थमयी पूजा, अंध विश्वास आदि ही धर्म के एकमात्र प्रतीक रह गये है। रेणु और नागार्जुन ने वास्तविक परिवेश में धर्म की अनेक विसगतियों और अन्तर्विरोधो का चित्रण किया है।

वाह्याचार

लोक-चेतना मे वाह्याचारों की अतिशय व्याप्ति है। जीवन के दैनंदिन कार्य-व्यापारो मे इसके अनेक उदाहरण प्राप्त है। लोक की अभावमयी जिन्दगी मे वाह्याचार का कारण अशिक्षा ओर अज्ञान है। रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य में इन वाह्याचारों का वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है, क्योंकि यह उन सत्यो को उद्घाटित करते

करते हैं, जिनके विषय मे हम सदेव यह सोचकर आशान्वित रहते हैं कि गाँव के लोग बड़े सीधे एवं पवित्र-मना होते है। नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" मे रतिनाथ की ईश्वरीय आस्था बाहरी है। घटा नाक मूँदकर बेठना आन्तरिक भक्ति का परिणाम नही अपितु वह तो उसका वाह्याचार है। इसकी पुष्टि उसके कुल्ली राउत के प्रति कहे इस कथन से होती है, "अरे, यहाँ कौन देखता है? देखना चलकर तरकुलवा मे, घटा-भर नाक न दबाये रहा तो जो कहो।"[1]

रेणु के "मैला आँचल" मे बाह्याचारो का उत्तम है मेरीगंज का मठ। वहाँ सभी महन्थ दुराचारी ही आते है। महन्थ सेवादास, लरसिघ महन्थी के उम्मीदवार जो असफल हुए, महन्थ रामदास सभी बाह्याचारो से जुड़े है। आन्तरिक भक्ति नाम की वस्तु इनके पास नही है। ठगई, झूंटा प्रचार और धार्मिक दिखावे ही मात्र इनके पास है। लक्ष्मी सेवादास की रखेलिन है तो रामदास की रमपियरिया। बेचारी लक्ष्मी पर तो बहुतो ने दृष्टि लगाई है। सेवादास के मरने पर वह भी सासारिक दुनिया मे प्रविष्ट होती है और बालदेव से शादी कर लेती है। लरसिघदास जो महन्थी का उम्मीदवार बनता हे आते ही लक्ष्मी के साथ नोक-झोंक शुरू कर देता हे और उसे स्नान करते समय बाँस की टट्टी में छेद करके देखता है। उसके गुरू नागा बाबा के इन शब्दो से उसके विषय मे उचित कल्पना की जा सकती है, " हरामजादी किवाड बन्द करके सोती है। यहाँ कौन सोया है? वही पिल्ला रमदसवा! अरे उठ तेरी जात को मच्छर काटे। दासिन को जगा। बाबा का गाँजा भर कर सेज पर सोई हुई है। कहाँ है मेरा गाँजा? जानता नहीं, तीन-भर रोज की खुराक है। कहाँ?"[2] लक्ष्मी दासिन के प्रति इन गालियों मे उसकी कामजन्य निराशा है। वासतव मे मठ-मन्दिर धार्मिक वाह्याचारो के अड्डे बन गये हे जहाँ खुलेआम धर्म की ओट मे, नगई होती है, गाँजा फुँकता हे और शराब भी चलती है।

---

1 नागार्जुन रतिनाथ की चाची पृ0-54

2 रेणु. मैला आँचल पृ0-91

रूढ़-सत्यों की चिन्तनहीन स्वीकृति

लोक चेतना मे अशिक्षा और अज्ञान के कारण रूढ़-सतयो की चिन्तनहीन स्वीकृति वहाँ की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्याधि है। लोक-प्रचलित विश्वास ही इनके जीवन के सद्-असद् के नियन्ता है जबकि वास्तविकता यह है कि उन लोक विश्वासो का कोई दृढ़ आधार नही होता। लोक-जीवन मे देनदिन कार्य-व्यापारों मे लोक-विश्वास अर्थात् रूढ़-सत्य एक आवश्यक भूमिका निभाते है। कार्यो और यात्राओं की तिथियाँ, प्रारम्भ, शादी-ब्याह, गृह-निर्माण आदि कार्य शुभ-अशुभ के विचारोपरान्त ही प्रारम्भ होते है। बाल कटवाना, खेत जोतना-बोना, काटना आदि विशिष्ट दिनों में करना ही श्रेयस्कर होता है।

ग्रामीण मनुष्य का जीवन लोक-विश्वासो से भरा हुआ है। मनुष्य के पेदा होने से मृत्युपर्यन्त ये विश्वास उसे जकडे रहते है। सामान्यत गाँवों में विभिन्न धामिक लोकों की भी चर्चा होती है, जैसे मृत्यु लोक, पितृ लोक, देव लोक, स्वर्ग लोक आदि। इनमे मृत्यु लोक निम्न और स्वर्ग लोक उच्च माना जाता है। मृत्यु लोक से छुटकारा और स्वर्ग लोक की प्राप्ति इनका लक्ष्य होता है। स्वर्ग लोक की कल्पना जीवन का कोई वास्तविक यथार्थ नही हे अपितु यह उनका पवित्र विश्वास है और इसी से प्रेरित होकर वे लोग सत्कर्मो की ओर बढते है। रेणु के "मेला आँचल" के डाक्टर प्रशान्त को मेरीगंज के लोगों के लोक-विश्वासो से जूझना पडता है। लोक हेजा और मलेरिया को डा0 प्रशान्त की चिकित्सा-सेवाओ का ही क्रिया परिणाम मानते है।

भूत-प्रेत

लोक-चेतना अपनी प्रकृति और परिवेश मे अज्ञात जनित भूत-प्रेत की कल्पना से युक्त है। नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" मे शंकर रतिनाथ के साथ बेलगाडी तक मे नही बेठते और गाड़ी के साथ-साथ पेदल चलते है। रतिनाथ यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य चकित होता है। कई बार कहने पर भी जब वे नहीं बेठते है तो आखिर वह इसका कारण पूछ ही लेता है। शंकर बाबा के उत्तर में

उनकी पोगापन्थिता और प्राचीन परम्पराओ के प्रति पूर्वाग्रह व्यक्त होता है। "बच्चा, अब कोई इन बातों का विचार नही करता। बेल ठहरे शिवजी के वाहन। इनके चारों पेर धर्म के ही चार चरण। इसीलिए ब्राह्मण न हल जोतते हैं, न गाडी चलाते है। चढ़ना भी मना है।"[1]

रेणु के "मेला आँचल" का मेरीगज गाँव भूत-प्रेत सम्बन्धी कल्पनाओं एव आधारहीन अध-विश्वासों मे फँसा हुआ है। मलेरिया ओर कालाजार से ग्रस्त इस इलाके के लोग इतने अन्धविश्वासी है कि गाँव मे अस्पताल का खुलना, मलेरिया सेण्टर का खुलना आदि तक को विपत्तिसूचक मानते है। गाँव का गाँव अपनी सामूहिकता गवाँ टोलो मे बँट गया है। ब्राह्मण टोले के जोतखी जी तो यहाँ तक कह डालते हैं कि, "डाक्टर लोग रोग फैलाते है, सुई भोंककर देह मे जहर देते हैं, आदमी हमेशा के लिए कमजोर हो जाता है, हेजा के समय कूपों मे दवा डाल देते है। गाँव का गाँव हेजा से समाप्त हो जाता है पुरब मुलक कामरूप, कमिच्चा, आसाम से काला-बुखार वालो का लहू शीशी में बन्द करके यही लोग ले आये थे। आजकल घर-घर मे काला-बुखार फेल गया है। इसके अलावा विलेती दवा मे गाय का खून मिला रहता है।"[2] गाँव के लोग भोज आदि के दिनो मे "जगल की ओर दो पूड़ियाँ फेक देते है, जगल के देवी-देवता और भूत-पिशाच के लिए।"[3] और गाँव के लोगो का विश्वास है कि यदि "विश्वनाथ प्रसाद पारवती की माँ का पक्ष न लेते तो गुण मन्तर शेष हो जाता।"[4] आपरेशन डाक्टर से करवाने के स्था पर स्त्री की मोत को अच्छा समझा जाता है क्योंकि "बच्चे को पेट काटकर निकालना! शिव हो! शिव हो।"[5] यही नही बुरा-भला कहने पर "तुरन्त सराप मिल जाता है।"

रेणु के परती परिकथा के परानपुर गाँव के लोग भी अन्धविश्वास से ग्रस्त है। ग्रामीण लोगो के अनुसार "डेढ़ सो एकड की पाँच परिधियों में ब्रह्म

---

1 रेणु मैला आँचल पृ0-91
2 रेणु मैला आँचल पृ0-18
3 रेणु मैला आँचल पृ0-41
4 रेणु मैला आँचल पृ0-148
5 रेणु मैला आँचल पृ0-148

पिशाच का राज्य था।"[1] यही नही, वे लोग विश्वास करत है कि "हँसी ठिठोली भला देवता बरदाश्त करें?"[2] कभी नहीं। ठिठोली करने मे ही देख लो सभी बेजात हो गये। कोई टीका जनेऊ कराकर सोसलिट मे जात दे दिया, तो कोई मुर्गा–मुर्गी खाकर कोमनीस में अपना धरम दे दिया।"[3] इसीलिए जब निरसू पर देवी की सवारी होती है "निरसू भगत दही खा रहा है"[4] न कहकर "परमा बाबा खा रहे हैं"[5] कहते है। अपने इन्हीं अन्ध–विश्वासो के कारण ही "दूसरे कुड मे दत्ता के टुअर बेटे के नाम खीर चढाते हैं।"[6] "पुल आदि बाँधने के पहले आदमी की बलि देते हैं"[7] तथा "कचहरी की मिट्टी से कपाल पर टीका लगाकर देवी–देवता को सुमर करते है।"[8] उनका विश्वास है कि यदि " आँचल मे सिर्फ अच्छत गिरे तो समझो कपाल खराब है। यदि फूल गिरे तो मनोकामना पूरी समझों।"[9] तभी तो "वाक" आदि लेने के लिए परमा बाबा के पास जाते है।

रेणु के "जुलूस" में नवीनगर और गोडियर गाँव के वासी अन्ध–विश्वासों से बँधे हुए काठ के पुतले हैं। जयराम सिंध सोचता है कि यदि मत्रों की महिमा न होती तो बाँध उद्घाटन के समय काशी और पटना के पण्डित कलश सजाकर आरती क्यों उतारते? आररिया कोट की सभा मे मत्री जी लाल मूँगो वाले गोल, चपटे चौड़े ताबीज लटकाकर क्यों आते?"[10] अवश्य मंत्रो के बल पर मंत्री जी मत्री हुए हैं। यहाँ तक कि गाँव की बाढ़ के भी ग्रामीण ईश्वर–कोप का ही परिणाम समझते हैं। रीत छोड़कर अनरीत करने का फल सारे गाँव वालों को भोगना पड रहा है।[11] इसीलिए तो काली कलकत्ते वाली क्रोध प्रकट कर रही है।

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0–23
2 रेणु परती परिकथा पृ0–90
3 रेणु परती परिकथा पृ0–90
4 रेणु परती परिकथा पृ0–92
5 रेणु. परती परिकथा पृ0–92
6 रेणु परती परिकथा पृ0–183
7 रेणु. परती परिकथा पृ0–228
8 रेणु परती परिकथा पृ0–79
9 रेणु परती परिकथा पृ0–94
10 रेणु जुलूस : पृ0– 40–44
11 रेणु. कितने चौराहे पृ0 43–44

रेणु के "कलकमुक्ति" मे गली मे रहने वाली बूढ़ी औरतें परिवार नियोजन को अपने अन्ध-विश्वास के कारण अपशकुन समझती है। इसलिए कहती है "खूब कोख खाती फिरो घूम-घूम कर डायन सब कहती हे बच्चा कम पदा करो ।"[1] रेणु के कितने चौराहे में गाँव के ही नही शहर के लोग भी अधविश्वासो में फँसे हुए हैं। मोहरिल मामी भी कहती हे "कैसा है ई लड़िका कुलच्छन कि भोरहि-भोर उठके छींके लगा है। आज एक्को मुअक्किल जो आवे।"[2] वह यह भी मानती है कि, "जिस लड़की का कपाल चौडा हो, वह जवानी मे ही बेवा हो जाती है गाँव की मेनी, दयावती, महावती! सभी बहनो के कपाल चौड़े है और सभी बेवा!"[3] लोगो का यह भी विश्वास है कि "पोस्टमार्टम हाऊस जिस स्थान पर था वहाँ पेडो पर भूत पिशाच किलबिल किलबिल करते है, मेदान मे प्रेतनियाँ नाचती है सथालियो के झुड बनाकर।"[4] कारण, किसी समय वहाँ मुर्दो की चीर-फाड़ होती थी।

रेणु के "मेला आँचल मे" एक भुतहा जगल का चित्रण हुआ हे जहाँ पर लोग दिन मे भी जाने से डरते हैं।" कोठी के बगीचे मे अग्रेजी फूलो के जंगल में आज भी मेरी की कब्र मोजूद है। कोठी की इमारत ठह गई है। नील के होज टूट गये है। पीपल, बबूल तथा अन्य जंगली पेड़ो का एक घना जगल तेयार हो रहा है। लोग उधर दिन मे भी नही जाते, कलमी आम का बाग तहसीलदार साहब ने बन्दोबस्त मे ले लिया है इसलिए आम का बाग साफ-सुथरा है किन्तु कोठी के जंगल में तो सियार बोलता है। लोग उसे भूतहा जगल कहते है। ततमा टोली का नन्द लाल एक बार ईट लेने गया था। ईट मे हाथ लगाते ही वह खत्म हो गया था। जगल से एक प्रेतनी निकली और नन्द लाल को कोडे से पीटने लगी- साप के कोड़े से। नन्दलाल वही ढेर हो गया। बगुले की तरह उजली प्रेतनी।"[5] बालदेव जी ने कई बार भूत को अपनी आँखों से देखा है। भैस के पीछे-पीछे खेनी-तम्बाकू माँगता

---

1 रेणु कलंकमुक्ति पृ0 58-59
2 रेणु कितने चौराहे पृ0-19
3 रेणु कितने चौराहे पृ0-28
4 रेणु. कितने चौराहे पृ0 43-44
5 रेणु मेला आँचल पृ0-14

हे भूत! डाकिन का पाँव उल्टा होता है और वह पेड़ की डाल से लटक कर झूलती है। भूत-प्रेत झूठ है? तब कमला किनारे, कोठी के जगल के पास रात को जो भक्क से राकस जल उठता है, दोडता है और देखते-ही-देखते एक से दस हो जाता है सो क्या है?"[1] जादू-टोने पर मेरीगज गाँव की अधिकांश जनता विश्वास करती है। विश्वनाथ प्रसाद कहते हैं- "जोतखी जी से एक बार जन्तर/बनवा के देखा, झाड़-फूँक भी करवा के देखा परन्तु कुछ अन्तर नहीं आया।"[2] गाँव में पारवती की माँ को जादू-टोने मे सबसे निपुण मानते है। जोतखी जी भी कम नही है "समझे हीरू! शुकवार को अमावस्या है। जिस पर तुझे सन्देह हो उसके पिछवाड़े में बैठ जाना। ठीक दो पहर रात को वह निकलेगी उसका पीछा करना। वह तुम्हारे बच्चे को जिलाकर तेल-फुलेल लगाकर गोरी मे लेकर जब नाचने लगेगी उस समय अपना बच्चा छीन लो।"[3] खलासी जी जो "रंमजूदास के गुहाल पर रह रह कर दीया की बाती को मुँह में लेते है अरे बाप! अलबत्त ओझा है खलासी जी!"[4] इस प्रकार लोग जादू-टोने को बहुत महत्व देते है। गाँव के लोगों का ज्योतिष में विश्वास है। ज्योतिष विद्या में जोतखी जी ही पण्डित माने जाते हैं। उनका कहना है "हाथ की उर्ध्व रेखा तो सीधे तर्जनी में चली गई है, लेकिन कुंडली के दशम घर में शनि है।"[5] इसलिए अशुभ है। इसी प्रकार वे बिना लक्ष्मी की पूजा किये बस्ता मे हाथ न लगाने की सलाह देते है तथा शुक्रवार को कार्यारम्भ, यात्रा तथा गृह-निर्माण के लिए शुभ बताते है।[6]

रेणु के "परती परिकथा" में भी भूत प्रेत के अध विश्वास का चित्रण मिलता है। लोगो की धारणा है कि "हवेली के पिछवाडे वाले ताड वृक्ष पर ब्रह्मपिशाच रहता है। विशाल परती पर, डेढ सौ एकड़ की पाँच परिधियों पर इस ब्रह्मपिशाच का राज्य था। प्रत्येक वर्ष शरद की चाँदनी में वह इन पाँच चको मे अपना रूपया पसार कर सूखने देता था।"[7] परानुपर गाँव के लोग

---

1 रेणु मेला आँचल पृ0 105
2 रेणु मेला आँचल पृ0 54
3 रेणु मेला आँचल पृ0 246
4 रेणु· मेला आँचल पृ0 255
5 रेणु. मेला आँचल पृ0 66
6 रेणु. मेला आँचल पृ0 136
7 रेणु: परती परिकथा पृ0 23

जादू–टोना करने मे भी निपुण है। "पंचहरिया मूर्छावान से सुला देना, डिबियो के खोलने से अमावस्या की रात होना तथा अँगूठी के नगीने स आँधी–पानी छोड़ना"[1] जादू–टोना के सफल उदाहरण है। लुत्तो भी बाभना के सभी गुण–मन्तर जानता है। तभी तो "गुण–मन्तर फूँक कर चुटकी बजाकर भिम्मल पगलवा को भगा दिया।"[2] बुरे स्वप्न आदि के कारण "लुत्तो की माँ ने लगातार एक महीना झाड़–फूँक करवाया तब कहीं जाकर वह सपना बन्द हुआ।"[3] जादू के बल पर ही जलधारी लाल "ब्रह्म पिशाच से भेंट करा सकता है।"[4]

रेणु के "जुलूस" उपन्यास में गाँव वाले समझते हे कि तालेवर गोढ़ी ने खुट्टी खुरैइहा मे एक साथ चार डायनों को नगा नचाया था। मृत बालकों को पुनरूज्जीवत करके तालेवर ने डाइनों का "गुण" हथिया कर अपनी चुनोटी में समेट लिया था। आज भी गाँव भर में उसका जादू लोगो के सिर चढ़कर बोल रहा है। आज भी वह मशान की अस्थियाँ जिसके घर–आँगन में गाड़ दे वहाँ ऐसा बनरभूता लग जाये कि एक वर्ष मे ही सब धन–जन विनष्ट।[5] तालेवर गोढी जयराम सिंघ को मन्तराई मिट्टी देता हे ताकि वह जाकर पवित्रा के चरण तले डाल आये। उसका विश्वास है कि ऐसा करने से वह अवश्य अमावस्या की रात को स्वयं खिंची चली आयेगी। होता यह हे कि मिडिल स्कूल की मजूरी की सूचना सुनाने के लिए अचानक पवित्रा गोडियर गाँव पधारी। बस फिर क्या था? सारा गाँव ताबडतोड उमड़ पड़ा। अवश्य वह तालेवर गोढ़ी के मन्त्र–बल से खिच कर नाचती हुई आई है। ग्रामवासी एक–दूसरे को दिखाकर कहते है " हाथ जोडती हे, देखते नही ?"[6] गोड़िहारों और बंगालियो का ज्योतिष-विद्या में अगाध विश्वास है। कामदेव चोधरी बगालिन पवित्रा को इस विद्या का जानकार समझता है। उसके कथनानुसार "फारविसगज और कस्बा से लोग आकर उसी से दिन उचरवाते हैं– बगाली, बिहारी, मारवाड़ी सभी। पाँच पाँच देश के पत्रे है उसके पास बगाल का नदिया शान्तिपुरी, बिहार का तिरहुता और काशी जी का पाँजी।"[7]

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0 10–11
2 रेणु परती परिकथा पृ0 77
3 रेणु: परती परिकथा पृ0 265
4 रेणु परती परिकथा पृ0 279
5 रेणु परती परिकथा पृ0 38–39
6 रेणु: जुलूस पृ0 88
7 रेणु जुलूस पृ0 48

रेणु जी लिखते है, "ज्योतिषियो ने अष्टग्रह योग के बड़े भयावह भविष्य की गणना की है। बडे और पुराने नेताओ की अकाल मृत्यु से देश हर महीने अनाथ होता है। रोशनी बुझ रही है- एक-एक कर एक अज्ञात भय से सारा देश भयभीत है।"[1] रेणु के "कितने चौराहे' मे मनमोहन के बाबा का जादू-टोने मे विश्वास है। मनमोहन के बाबा कहते है "साधु सन्यासी लोगो से तनिक दूर ही रहना। उन लोगों का क्या, कोई ऐसा मन्तर पढ़ कर फूँक दे कि हम लोगो को पहचानोगे भी नहीं।"[2] परन्तु बाद मे जब काका स्वय भी आश्रम की सेवा में जुट जाते हैं तो मनमोहन भी यही कहता है "महाराज जी का मन्तर काम कर रहा है।"[3]

नागार्जुन "बलचनमा" मे भूत झाड़ने की पद्वति का वर्णन करते हैं- "चूहे के बिल की मिट्‌टी पुराने बिनौले, तोड़े हुए कुश के तिनके, चार बूँद गगाजल, पीपल के सूखे पत्ते इतनी चीज मिलाकर, ठाकुर भूत झाड़ना शुरू करते है। ओइम् काली महाकाली, इन्द्र की बेटी, ब्रह्मा की शाली, फू इतना कहकर कुछ देर तक होठ पटपटाते है और फिर खवासिन की छाती पर फूँक मारते हैं।"[4] नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" मे ब्रह्मराक्षस से बाबा बटेसरनाथ को छुटकारा इस प्रकार मिलता है, "ककाली माई का नाम लेकर औघड़ ने एक ही साँस में देसी ठर्रे का अद्वा चढ़ाया, महाप्रसाद तैयार किया था, जी-भर उसे भी पा लिया। इतमीनान से चरस का दम लगाया पहले उसने वेदी पर चिमटा फटकारा और जोरों से आवाज मारी- "ओ ऽ ऽ ऽ ड अलउख् निरजन् भग् सा ऽ ऽ ऽ ऽ ले!।।" बाद में ध्वजा उजाड़ कर अलग गिरा दी चबुतरा खोद डाला। आखिर मे लोहे की एक कील निकाली औघड़ ने। उस कील को औघड़ ने मेरे सीने

---

1 रेणु जुलूस पृ0-81
2 रेणु कितने चौराहे पृ0-57
3 रेणु कितने चौराहे पृ0-74
4 नागार्जुन . बलचनमा पृ0-21

मे जरा–जरा ग्यारह दफे ठोका–ठोका कर निकाल लेता और देख लेता, ग्यारहवीं बार बोला "चकरापाइन पाठक! अब तुम इस कील की हिरासत में आ गये बाबू! चलो मेरे साथ " औघड़ वह कील साथ लेता गया। रूपउली के उत्तर मकरमपुर के नजदीक जीवछ की पुरानी धार के किनारे एक बुड्ढा पीपल था, उस कील को बाबा जी ने उसी के सीने मे ठोक दिया हथौड़ी की चोट से जब समूची कील ठुक चुकी को औघड़ भभाकर जोरो से हँसा था।"[1]

मनोतियाँ और भौतिक स्वार्थपूर्ति

लोक–जीवन में देवी–देवताओ एव ईश्वरीय आस्था का एक आन्तरिक उत्स है– मनोतियाँ। जिनकी पूर्ति हेतु लोग अपने अभीष्ट की अभ्यर्थना करते है। जीवन–जगत् के भौतिक स्वार्थ ही उन्हें पूजा और भक्ति की ओर उत्प्रेरित करते हैं। यों तो स्वार्थवादिता की प्रवृत्ति शहरी भौतिकवाद की ही देन हे लेकिन गाँवो में ईश्वरीय कृपा केरूप में इसके लिए प्रार्थनाए करते हैं। सन्तान–रहित सन्तान की, गरीब धन की तथा उन दोनों से भरपूर व्यक्ति यश–लाभ की कामना करते हैं। विभिन्न देवी–देवताओ मे आस्था रखने वाले अपने–अपने मन में एक सकल्प निर्धारित कर लेते हैं और उसकी पूर्ति हेतु देवता विशिष्ट से निवेदन करते है और जब उस व्यक्ति की मनोकामना पूर्ण हो जाती है तो अपनी श्रद्धानुसार या फिर जो संकल्प किया होता है उसी के आधार पर ये लोग उसकी पूर्ति करते हैं।

मनोतियाँ और मनोकामना सिद्ध होने पर उनकी पूर्ति को काफी तल्लीनता से किया जाता है। आस्था के वहाँ दो स्तर नही होते। "बाबा बटेसरनाथ" (नागार्जुन) में जयकिसन को सुनाई पुरानी स्मृति–कथा से मनोतियाँ पुष्ट होती हैं। "मनोरथ पूरा होने पर लोग आकर धूमधाम से मनोतियाँ चढाते हैं। रेशम की झूले, कोढ़िला के बने सिरमौर और मण्डप, जरी–गोटे की मालाएँ, पीतल, काँसे की घटियाँ, लाल इकरंगे का टुकड़ा धूप–दीप, फूल–फल, अच्छत–दूब, दूध और गगा जल, बेल और तुलसी के पत्ते फरफरहरी, मिठाइयाँ, पकवान, पान, मखान ढोल–ठाक–पिपरी! बारह मही मे बीस–पच्चीस बकरे भी बलि चढते थे– मचलते मुण्डों और तड़पते घड़ो की खूनी पिचकारियों से मेरा सीना सुर्ख हो

---

1 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0–74

उठता था। रंगो मे बिजली दौड जाती थी, क्षण-भर के लिए पत्तो का हिलना रूक जाता था ।"[1] अज्ञान, अशिक्षा, दृढ निश्चयजन्य ये मनौतियाँ किस प्रकार मनायी जाती है। बलि जेसे हत्या-कर्म उद्देश्य की पूर्ति होने पर शुभ बन जाते है। हमारे आदर्शो की सामाजिकता कितनी खोखली है यह उपर्युक्त कथन से ज्ञापित होता है।

धर्म के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोंण

धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों के बावजूद गाँवों में धार्मिकता की एक नयी मानसिकता उभर रही है। वहाँ अब धार्मिक प्रभुत्व के स्थान पर सांसारिक दृष्टिकोंण विकसित हो रहा है। अब वह आधुनिक हो गया है। लोग किसी कार्य के धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य के स्थान पर अब अर्थ-लाभ ही से परिचालित होते है। कही आर्थ-लाभ के लिए धार्मिक कार्य को बिल्कुल तिलाजलि दे दी जाती है और कहीं ये कार्य भार स्वरूप निबाहे जाते हैं और कहीं ये कार्य भार स्वरूप निबाहे जाते है। भाग्यवाद के स्थान पर कर्मवाद का उदय, परम्परागत मान्यताओं के स्थान पर बौद्विकता जन्य वेचारिकता का उन्मेष, धार्मिक, कट्टरता के स्थान पर धर्म-निरपेक्षता, धार्मिक-सगठनो मे शैथिल्य-भावना तथा कर्मकाण्डों को निरन्तर उदासीनता पनप रही है, जिसे ग्रामीण परिवेश के नये स्वर कहा जा सकता है।

सास्कृतिक आयाम (प्राचीन एवं नवीन संस्कृति मे सघर्ष)

भारतीय संस्कृति का मूल एव उसका सच्चा स्वरूप हमें लोक-जीवन मे ही प्राप्त होता है। हमारा समस्त सास्कृतिक प्रसार कृषि और लोक-जीवन मे ही परिव्याप्त है। मनुष्य के रूप में एक सामाजिक सदस्य के नाते उसके सारे

1

गाँव मे नये और पुराने विचारो की टकराहट है। गाँव में शहरी खान–पान एवं वेश–भूषा का प्रसार आ पहुँचा है। गाँव की फुलिया बालो मे सुगन्धित तेल लगाती है, शहरी तौर–तरीके से रहती है। "साडी पहनने का ढंग, बोलने–बतियाने का ढग, सब–कुछ बदल गया है। तहसीलदार साहब की बेटी कमली अंगिया के नीचे जेसी छोटी चोली पहनती है, वेसी वह भी पहनती है। कान में पीतर के फूल है। फूल नही फुलिया कहती है– कनपासा। आँचल मे चाबी का गुच्छा बाँधती है, पैर में शीशी का रग लगाती है।"[1] शहरी सस्कृति और सभ्यता का संक्रमण गाँव मे विविध स्तरो पर हो रहा हे जिसके कारण प्राचीनता विच्छिन्न होती जा रही है।

रेणु ने "परती.परिकथा" में नवीन संस्कृति का प्रसार बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। परानपुर की सामूहिकता, एकता, सास्कृतिक उच्चता आज शेष नही है। गाँव में युवक–युवतियाँ, नर–नारी, माँ–बेटी, बाप–बेटे सभी ने अपने–अपने अलग रास्ते अपनाए हैं। चकबन्दी ने घर–परिवार सभी को बाँट कर रख दिया है। उत्सव–त्योहार सभी की रगत चली गयी है। गाँव मे नई–नई घटनाएँ घटती है। गाँव के आदमी गाँव मे ही अज्ञात कुलशील बन गये है। कोई एक दूसरे से मुक्त हृदय से मिल तक नहीं पाता। इसी की आवश्यकता को अनुभव करता हुआ जितेन्द्र कहता है, " प्रीति–बन्धन के खोए हुए सूत्र को खोजकर निकालना होगा। नहीं तो इस सार्वभौम रिक्तता से मुक्ति की कोई आशा नही। परमादेव की सवारी के दिन, गाँव मे चाचल्य। रग्घू रामायनी की गीत–कथ के समय, शामा–चकेवा की रातो मे, बन्द मन के झरोखे जरा खुले थे। जाला, सकीर्तन, नाटक के अवसरो पर आनन्द से सारा गाँव फूला रहता ओर, अब ?"[2] गाँव मे क्या सम्बन्ध, क्या खान–पान, क्या रहन–सहन, क्या सोच–विचार सभी के नये–नये प्रतिमान उद्घाटित हो रहे हैं और ग्राम–जीवन की प्राचीनता में ये सब प्रकट हो रहे है।

नागार्जुन के दुखमोचन के टमका–कोडली गाँव मे शहरी खान–पान ओर वेश–भूषा का प्रसार हो गया है।" नारियल का खुशबूदार तेल और प्लास्टिक

---

1 रेणु मैला आँचल पृ0–167

2 रेणु परती परिकथा, पृ0–351

की लम्बी कंघी इनके घरो मे भी पहुँच चुकी है।"[1] दुखमोचन के माध्यम से गाँव मे जागरूकता बढती है। यहाँ पुराने विचारो और नये विचारो मे टकराहट दिखाई देती है। पुरानी और जर्जर परम्पराओं के प्रति गाँव के लोगों की मानसिकता बदल रही हे तथा नये विचारों की ओर गाँव के लोग आकृष्ट होते है। नागार्जुन के "नई पोध"मे गाँव की नयी पीढ़ी अनमेल विवाह का तीव्र विरोध करती हे और विवाह नहीं होने देती। पुरानी पीढी की संस्थागत मान्यताओ ओर अत्याचार के प्रति नयी पीढी का विरोध यहाँ अत्यन्त मुखर हो उठा हे।

सांस्कृतिक पर्व एवं त्योहार .

भारतीय संस्कृति की यह एक विशिष्टता हे कि उसमे लोकिक एव पारलोकिक दोनो प्रकार के जीवन को उज्जवल बनाने की भावना विद्यमान रही है। लोक–सस्कृति के पर्व, त्योहार, मेले, कलाएँ, प्रथाए, जन–रीतियाँ, रूढ़ियाँ एवं विविध सस्कार प्रधान परम्पराएँ आदि इसके अवयव हैं। सास्कृतिक पर्वो का मानव–जीवन की लोकिक और अलौकिक दोनो प्रकार की खुशियों से सम्बन्ध हे। एक तरफ जहाँ जीवन के लिए आह्लाद लेकर आते हे वहीं साथ कुछ शास्त्र सम्मत रूढ–परम्पराओं एवं मान्यताओं का ध्यान करा मनुष्य के जीवन मे सद्–असद् का ज्योति–बिन्दु छोड़ जाते है। हमारे लोक–जीवन मे विविधता हे अत यहाँ के सास्कृतिक उपादानों मे भी इसके दर्शन होते हे।

हमारे लोक–जीवन मे त्योहारों का व्यापक महत्व है। लोग त्योहारों के दिन अच्छे वस्त्र पहनते हें, बढ़िया–बढ़िया भोजन मे पकवान आदि बनवाते हैं। घर मे चारो ओर खुशी का वातावरण होता है। त्योहारों के मूल में धार्मिक भावना निहित होती हे ओर लोग उत्तम भविष्य की कामनाए अपने–अपने देवी–देवताओं से करते हे।

रेणु के "परती परिकथा" में "गाँव की कुँवारी लड़कियाँ, ब्याही बेटा–बेटी वाली अधेड, बूढी सब मिलकर "शामा–चकेवा" का त्योहार मनाती हे त्योहार मे बनाती हे मिट्टी का शामा, मिट्टी का चकेवा। छोटे–छोटे दर्जनो किस्म के पक्षियों के पुतले। अन्दी धान के चावल का पिठार घोलती है। पोतती हे प्रत्येक पुतले को। इसके बाद लिपे पुते सफेद पुतलों पर, पुतलों के पाँखों पर, आँखों पर तरह–तरह के रंग–टीप, फूल–लत्ती। लाल, हरे, नीले, पीले,

---

1 नागार्जुन दुखमोचन पृ0 68–69

बेगनी, सुगापखी, नीलकण्ठी। पुतले ब्याही बहन बना देती। बूढ़ियाँ रग-टीपकारी आदि कर देती है।

"पूर्णिमा से दो रात पहले से शामा-चराई की रात शुरू होती है। घर-घर से डालियाँ लेकर आती है लड़कियाँ। डालियों में चावल, फल, फूल पान सुपारी के साथ पछियों के पुतले। लम्बी पूँछवाली खजन, पूँछ पर सिन्दूरी रग का टीका वाला पछी, ललमुनियाँ। बिनरा वृन्दावन। जहाँ शामा-चकेवा की जोड़ी चरेगी। छोटे-छोटे कीड़े-पतगे, बरसात के जन्मे। असली कीड़े-पतंगे नहीं, मिट्टी के ही। वृन्दावन मे चुगला आग लगा देगा। जली-अधजली चिड़िया वृन्दावन की आग को अपने छोटे-छोटे डैने से बुझावेगा। धान, दही, दूध और मिट्टी के ढेले खिलाकर, लडकियाँ बिदा करेगी शामा-चकवा को "जहाँ का पंछी तहाँ उडि जा, अगले साल फिर से आ।" चुगला की चारी मे और मुँह मे आग लगाकर लड़कियाँ ताली बजाकर गावेगी- "तोरे करनवाँ रे चुगला तोरे करनवाँ ना। रोये परानपुर की बेटिया रे, तोरे करनवाँ ना।"[1]

रेणु के "मेला आँचल" में मेरीगंज गाँव के लोग चेत संक्रान्ति के दिन सतुआनी पर्व मानते हैं उस दिन लोग दोपहर को सत्तू खाते हैं। उसके दूसरे दिन पहली वेशाख, साल का पहला दिन सिरवाँ पर्व का होता है। सिरवा पर्व के दिन चूल्हा नही जलता। लोगो का विश्वास हे कि "बारहो मास चूल्हा जलाने के लिए यह आवश्यक हे कि वर्ष के प्रथम दिन मे भूमिदाह नही किया जाए।"[2] सिरवा पर्व के दिन सभी गाँव के लोग सामूहिक रूप से मछली का शिकार करते हैं। छोटे-बडे, अमीर-गरीब सभी टापी और जाल लेकर सुबह ही निकलेंगे। संथाल लोग बधना पर्व [3] मनाते हे यह फूलों का त्योहार होता है। लोग बडे धूम-धाम से होली का त्योहार मनाते हैं। होली की मादकता का वर्णन रेणु इस प्रकार करते हैं

---

1 रेणु परती.परिकथा पृ0 195-196
2 रेणु मैला आँचल पृ0 146
3 रेणु मैला आँचल पृ0 164

"और होली ? फागुन महीने की हवा ही बावरी होती है। आसिन–कातिक के मलेरिया ओर कालाजार से टूटे हुए शरीर मे फागुन की हवा सजीवनी फूँक देती है। रोने–कराहने के लिए बाकी ग्यारह महीने तो है ही, फागुन–भर तो हँस लो, गा लो। जो जीयै सो खेले फाग। दूसरे पर्व–त्योहार को तो टाल भी दिया जा सकता हे। दीवाली मे एक दो दीप जला दिये, बस छुट्टी। लेकिन होली तो मुर्दा दिलो को भी गुदगुदी लगाकर जिलाती है। बौरे हुए आम के बाग से हवा आकर बच्चे–बूढों को मतवाला बना जाती है।"[1] स्त्रियाँ सामूहिक रूप से होली का गीत गाती हे–

"नयना मिलानी करी ले रे सैया, नयना मिलानी करी ले।
अबकी बेर हम नइहर रहिबो, जो दिल चाहे से करी ले।
× × × ×
अरे बहियाँ पकड़ि झकझोरि श्याम रे,
फूटल रेसम जोड़ी चूडी,
मसकि गई चोली, भीगावल साड़ी
आँचल उड़ि जाए हो
ऐसो होरी मचायो श्याम रे ।"[2]

रेणु के "जुलूस" में ईद और दुर्गापूजा गाँव की मुसलमान और हिन्दू जनता मनाती है। हिन्दू ओर मुसलमान जनता मे सोहार्द्र कायम है। तभी तो "कादिर अब्बा के घर हर साल ठाकुर बाड़ी से दो बार सौगात भेजी जाती है। ईद ओर दुर्गापूजा मे। अपने पिता के साथ पवित्रा बचपन से ही ईद के मोके पर कादिर अब्बा की हवेली मे जाती। कासिम, शमीम, शबनम–कादिर अब्बा के सभी बच्चे–दुर्गा पूजा में ठाकुरबाडी आते थे।"[3]

---

1 रेणु मेला आँचल पृ0 122
2 रेणु मेला आँचल पृ0 123
3 रेणु जुलूस पृ0 63

नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची" मे दिवाली, दुर्गापूजा"[1] और मधुश्रावणी त्योहार तथा नागार्जुन के एक अन्य उपन्यास पारो में कोजागरा, बडिसाति और मधुश्रावणी त्योहार ग्रामीण जनता मनाती है। कोजागरा, बडिसात और मधुश्रावणी त्योहार मिथिला के विशिष्ट त्योहार है। कोजागरा त्योहार शादी के पहले साल आश्विन पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है।[2] बडिसाति पर्व शादी के पहले साल जेठ महीने मे एक खास तिथि को मनाया जाता है। मधुश्रावणी त्योहार शादी के पहले साल सावन महीने मे एक खास तिथि को मनाया जाता है।[3] मिथिला में यह नवबधुओ के सौभाग्य का महान पर्व समझा जाता है। धृत मिश्रित बाती की हल्की लौ से वर–बधू के पैरो को छू देना है। वह ईस कर उठती है। सखी उसके पैरो पर दही शहद अथवा शीतलोपचार की ओर कोई वस्तु या मक्खन मलती है।[4]

लोक–जीवन में आज भी त्योहार प्रचलित है लेकिन उन त्यौहारो के पीछे व्याप्त धार्मिक भावना का ह्रास हुआ है। समसामयिक जीवन में आर्थिक संकट, अभाव के कारण पर्वो और उत्सवो मे आम जनता के उत्साह में अपेक्षाकृत कभी आई है। नई पीढ़ी में इन पर्वो के प्रति उतना उत्साह नही है। रेणु के शब्दो मे "नये नोजवानो की नजर में इस तरह के पूर्व–त्योहार रूढ़िग्रस्त समाज की बेवकूफी के उदाहरण मात्र है। शामा–चकेवा, करमा–धरमा, हाक–डाक इत्यादि पर्वो को बन्द करना होगा।"[5]

मेले

लोक–जीवन मे मेलो की प्रथा भी सास्कृतिक प्रथा है। ये मेले या तो किसी विशिष्ट त्योहार के दिन लगाते है अथवा किसी अन्य सांस्कृतिक महत्व के दिन के उपलक्ष्य मे लगते है। गाँव वालो के मेले एक प्रकार से उनके बाजार

---

1 नागार्जुन रतिनाथ की चाची पृ0 80
2 नागार्जुन· पारो पृ0 34
3 नागार्जुन पारो पृ0 34
4 नागार्जुन : रतिनाथ की चाची पृ0 162
5 रेणु परती परिकथा पृ0 193–194

भी है और प्रदर्शिनी भी, त्योहार भी है और सामूहिक उत्सव भी। मकर–सक्रांति, बसत–पचमी, शिवरात्रि, दशहरा, नाग–पचमी, होली, दीपावली, जन्माष्टमी, राम नवमी, तीज, भाई-दूज आदि त्योहार हमारे सामाजिक एव सांस्कृतिक जीवन के महत्वपूर्ण दिन हे। कही किसी दिन और कही किसी अन्य दिन के उपलक्ष्य मे मेले लगते है। आस–पास की ग्रामीण जनता इनमे बड़े हर्ष के साथ भाग लेती है और अपनी सामूहिकता का परिचय देती हे लेकिन आज लोक–परिवेश मे ये मेले पारस्परिक मिलन–स्थल के स्थान पर गुडई के क्षेत्र बन कर रह गये हे।

रेणु ने "मैला आँचल" मे लाल बाग मेला, राम नगर मेला, रोहतक मेला आदि का वर्णन किया है।" जोतसी जी की पहली स्त्री को मेला–बाजार देखने का रोग था आखिर बेचारी की मृत्यु भी मेले मे ही हुई। उस साल अर्धोदय के मेले में वह जोरो का हैजा फैला था।"[1] "सामा जट कल तामगज मेला मे गिरफ्फ हो गया अभी मेला से जो लोग आये हे बोल रहे हैं।"[1] मेले मे नौटकी भी आती है।" मदनपुर मेला में एक ठेटर कम्पनी आयी थी कलकत्ता से। उसमे एक लेला थी। उसी ने सकलदीप को फँसा लिया।"[3] चंपापुर मेले में दंगल का आयोजन होता है "देखने वालों पर कभी–कभी ऐसा जोस सवार होता हे कि आस पास के लोगो मे धक्कम–मुक्की शुरू हो जाती है। डेढ गज के एक–छोटे से चक्कर में रूस्तम घूमा और चाँद का आसनान दिखा दिया।"[4]

रेणु के "परती परिकथा" मे "गोर, मालदह जिला में हर साल, अपनी माँ के नाम दीया–बाती जलाने के लिए ओरतो का बडा भारी मेला लगता है।"[5] और "मुलतानो पोखरा का मेला, जिले भर के हिन्दू–मुसलमानों का एक महत्वपूर्ण धार्मिक मेला है। दोनो कोम की स्त्रियाँ तीन दिन तक नहाती है।"[6] फारविस

---

1 रेणु मेला आँचल पृ0 66
2 रेणु मैला आँचल पृ0 245
3 रेणु मैला आँचल पृ0 254
4 रेणु मेला आँचल पृ0 259–261
5 रेणु. परती· परिकथा पृ0 11
6 रेणु परती. परिकथा पृ0 326

–गंज के मेले में परानपुर की नट्टिने तम्बू लेकर जाती है। बहुत गहमागहमी है। पुलिस वाले रोकते हैं– "मेले में रडी–पुतरियाँ गोजरा गाने वाली हो या तम्बुकबाली, किसी को बसने का हुकुम नहीं है।"[1] पाशुपति मेला[2] ओर बदरिया घाट के मेले[3] का वर्णन रेणु जी ने किया है।

रेणु के "जुलूस" मे पवित्रा बचपन मे पहली बार नारायणगंज काली मेले में गयी थी। मूर्ति देखकर वह डरी इसमे डरने की क्या बात हे? माँ गुस्से में रहे या खुशी मे माँ से कोई डर नही।"[4] रेणु के "कितने चोराहे" आश्रम मे सभी जाति और वर्ग के बच्चो का यह मिलन देखने योग्य होता है। एक साथ सेकडों बच्चे एक ही पक्ति में बेठकर प्रसन्न होकर खिचड़ी खाते हैं। दोपहर को पतंग का मेच–आकाश मे सेकड़ों रग–बिरंगी पतगें– "ब–काटा, ब–काटा।" खेल–कूद–इनाग, हँसी–हल्ला, गीत–कीर्तन सारा दिन।"[5]

नागार्जुन ने "नई पोध" में सोराठ के मेले का वर्णन किया है। "सोराठ में शादी के उम्मीदवारों का मेला लगता है, पण्डित अपने बेटे को लेकर वहाँ पहुँच चुके थे। लडकी या लड़के का ब्याह ठीक कराने के लिए गाँव के ओर भी लोग सोराठ गये थे।"[6] नवजात धान के तोता–पखी पोधो से लहलहाते खेतों की पगडण्डियाँ अपनी छातियों पर हजारों–हजार मानव--चरणो की धमक महसूस करके परम प्रसन्न हो रही थी और सोराठ के उस महामेला को दुआ दे रही थीं।"[7]

भारतीय मेलों में उत्तरोत्तर धार्मिकता का स्थान लौकिक जगत् के क्रिया–व्यापार ले रहे हैं। यह आधुनिक सभ्यता गाँवो में मन्थर गति से जा रही है। ग्रामात्मा पर उसके प्रभाव निरन्तर पड़ रहे हे और उन्हीं की क्रिया–परिणाम हे कि गाँव के सभी सांस्कृतिक पर्वो के रंग निरन्तर मटमेले हो रहे हैं। गाँव के लोग

---

1 रेणु परती. परिकथा पृ0–297
2 रेणु परती परिकथा पृ0–30
3 रेणु: परती:परिकथा पृ0 387
4 रेणु जुलूस पृ0–63
5 रेणु· कितने चोराहे पृ0–53
6 नागार्जुन. नयी पौध पृ0–8
7 नागार्जुन· नयी पौध पृ0–22

सामाजिक जीवन के विविध सुख–दुखों को भूल वर्ष–दा वर्ष मे हर्षोल्लास से मिलते–जुलते थे, अब वह सब भी समाप्त हो गया है। मेला मात्र नाम का रह गया है। जिसमे गुडई, बदनामी, मारधाड़ सभी कुछ होता है।

कीर्तन एवं कथा–वार्ता आदि धार्मिक कृत्य

लोक परिवेश मे व्याप्त धार्मिक आस्था के मूल म प्रकृति की प्रबलता ओर उनकी अज्ञानता है। उनकी समस्त जीवन–प्रणाली प्रकृति ओर भाग्य पर आधारित है। लोक–चेतना के आध्यात्मिक केन्द्र विन्दु कथा–वार्ता, कीर्तन, पाठ आदि हे जिनके माध्यम से समय कुसमय ग्रामीण ईश्वर की स्मृति कर लेते है। लोक–चेतना में धर्म की गहनता के अतिरिक्त व्यापकता के भी दर्शन होते है, यद्यपि इस व्यापकत्व का आधार इतना ठोस न होकर खोखला है।

रेणु के "मैला आँचल" के मेरीगज गाँव का मठ ही उनकी धार्मिकता का केन्द्र है। मेरीगंज स्थित गाँव के मठ पर भण्डारा, कथा–कीर्तन आदि यदा–कदा होते रहते है ताकि ग्रामीणो मे धार्मिक भावना बनी रहे। सेवादास महन्थ की मृत्यु पर गाँव का भण्डारा होता है। लक्ष्मी कोठारिन के निर्देशन में कीर्तन होता है, सत्सग होता है। गाँव के कीरतनियाँ लोग समदाउन शुरू करते है–

> हाँ रे, बडा बडा रे जलन से सुगा एक ह पोसल,
> माखन दुधवा पिलाए।
> हाँ रे, से हो रे सुगना बिरिछी चढि बैठल
> पिजड़ा रे धरती लोटाए ?"[1]

इस प्रकार एक के बाद एक खंजड़ी उठाते हैं और बोल उठते है। बडा आध्यात्मिक वातावरण बन जाता है। गाँव के ये कथा–कीर्तन उनकी आध्यात्मिक–भावना के प्रबल आधार हे ओर व्यक्ति इन्ही के माध्यम से व्यक्ति–जीवन ओर जगत् के विषय में सोचता है।

---

1 रेणु मैला आँचल पृ0 45

रेणु के परती परिकथा मे जितन्द्र के आग्रह पर ताजमनी श्यामा–कीर्तन का एक पद गाती है–

"पगली माँ केर कोन भरोसा
खनहि मैया राजी–ई–ई–खुशी–ई
राशि–राशि हाँसि हँसे–ए"[1]

काली पूजा की रात आठ बजे ताजमनी श्यामा कीर्तन का पद गाती है–

"हेरि हर ऽ मन ऽ मोहिनी, शिखर नन्दिनी–ई–ई–
काली कालभवऽवारिनी ई–ई–ई–––।"[2]

श्यामा संकीर्तन की पहली कड़ी को जब ताजमनी ने तनमयता से दोहराया तो गाँव का एक –एक प्राणी रोमाचित हो उठा––– रग्घू रामायनी की गीत–कथा और सारंगी सुनकर भी जिन लोगों की चमडी पर कुछ असर नहीं हुआ था– वे भी आज दौड़ रहे है। सभी पुराने कीर्तनियाँ सब भेदभाव भूलकर कीर्तन में सम्मिलित हो गये।"[3] रेण के "जलूस" मे "हर मगलवार को ठाकुरतल्ला मे कीर्तन होता –दस बजे रात तक ।"[4] सन्ध्या मैथिली कीर्तन "जय–जय भामिनी, असुर भयावनि'[5] गाती है।

लोक जीवन में सांस्कृतिक पूजा–पाठ, कीर्तन एव कथाएँ होने को आज भी होती है लेकिन उनकी सात्विकता, पवित्रता वह नही है जो पहले थी। लोक–चेतना का यह सास्कृतिक परिवर्तन नये भावबोध का सूचक है।

लोक गीत

लोक गीत ग्रामीण जनता की भावना, उनके सवेगों, अनुभूतियों एव उनकी सौन्दर्य–भावना का प्रतिनिधित्व करते है। ग्रामीण जिन भावो की अभिव्यक्ति

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0 250–251
2 रेणु परती. परिकथा पृ0 252
3 रेणु. परती परिकथा पृ0 252–253
4 रेणु जुलूस पृ0 -4
5 रेु जुलूस पृ0 33

सामान्य तोर पर करते हुए हिचकते है, उन भावो की अभिव्यक्ति लोक-गीतों के माध्यम से विभिन्न पर्वो एव उत्सवों पर वे बडे आह्लादक ढग से करते हैं। त्योहारो एवं पर्वो पर तो सामूहिक लोक-गीतो के स्वर सुनाई पडते ही है, साथ ही देनिक क्रिया-कलापो मे भी इन्हें सुना जा सकता है। गाँव के परिवर्तित परिवेश में शिक्षा एव विज्ञान के उन्मेष से भी नये-नये लोक-गीत जन्म ले रहे है। कृषि के नये साधनो से लोक-मानस मे प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं और उन्ही की अभिव्यक्ति इन गीतो मे परिव्याप्त है। खादी, चर्खा, गाँधी जी, स्वतंत्रता, वेज्ञानिक खेती आदि ने लोकगीतो को नये सन्दर्भ प्रदान किये है।

रेणु का "मेला आँचल" लोक तत्व का अद्भुत प्रयोग है। हमारे सांस्कृतिक पर्वो मे भी राजनीति की वर्तमान छाया पड़ रही है। लोक-गीतो मे यह भावना परिलक्षित है। मेरीगंज मे होली का त्योहार मुर्दा दिलो मे गुदगुदी पेदा कर देता है। आसिन कातिक के मलेरिया और कालाजार से टूटे हुए शरीर मे फागुन की हवा सजीवनी फूँक देती है और लोग ग्यारह महीने के लेते है। होली में भड़ौवा गीत के बोल लोगो को आनन्दित कर देते है-

"अरे हो बुड़वक बभना, अरे हे बुडबक बभना
चुम्मा लेवे में जात नहीं रे जाए।
× × ×
सोही डोमनियाँ जब बनली नटिनियाँ, आँखी के मारे पिपनियाँ
तेकरे खातिर दोड़ले बोड़हवा, छोडके घर मे बभनिया
जोलहा, धुनिया तेली तेलनियाँ के पीये न छुअल पनियाँ
नटिनी के जोबना के गंगा-जमुनुवाँ मे डुबकी लगाके नहनियाँ
× × × ×
भकुआ बभना, चुम्मा लेवे में जात नही रे जाए।"[1]

गाँव में होली का अपना ही राग रंग है। चारो ओर गुलाल उड़ रहा है। गाँव के नेता कालीचरण का दल बडा मुस्तेद है। उसके पास दो ढोल, एक ढ़ाक, झाँझ-डम्फ सभी कुछ है। सभी अच्छे गाने वाले

---

1 रेणु मेला आँचल पृ0 126

भी उसके साथ हे जिनमे गाँव के सुन्दरलाल, भुखीलाल, देवी दयाल तथा जोगीडा कहने वाला महंथा आदि प्रमुख है। महंथा दोहा–कवित्त आदि जोडने मे बडा कुशाग्र हे यद्यपि अभी वह मिडिल में ही पढता है। होली के गीतो में आये तात्कालिक युग–बोध की अभिव्यक्ति निम्न लोक–गीत मे द्रष्टव्य हे–

"होली है! कोई बुरा न माने होली है।
बरसा में गड्ढ़े जब जाते है भर
बेग हजारों उसमे करते हैं टर्र
वेसे ही राज आज कांग्रेस का हे
लीडर बने हैं सभी कल के गीदड़ जोगी जी सर रर
जोगी जी ताल न टूटे
जोगी जी, तीन–ताल पर ढोलक बाजे
जोगी जी, ताक धिना धिन!
चर्खा कातो, खध्धड़ पहनो, रहे हाथ मे झोली
दिन दहाडे करो डकेती बोल सुराजी बोली
जोगी जी सर र र !"[1]

सन्ध्या की गोधूलि बेला में गाय और वेलो के साथ घर लोटते हुए चरवाहे सावित्री नाच का गीत गा रहे थे–

"आहे सखी चलू फुलवारी देखे हे
देखिबो सुंदर रूप
नाना रसना फूल अनूप, चलू फुलवारी देखे हे !"[2]

"मेला आँचल" मे मेरीगज गाँव के समस्त टोली के लाग गाँव म वर्षा न होने पर इन्द्र भगवान को प्रसन्न करने के लिए–पानी बरसाने के लिए ओरते जाट–जट्टिने खेलती है जाट के पास हजारों भेसे है। वह उन्हें

---

1 रेणु. मेला आँचल पृ0 125
2 रेणु मेला आँचल पृ0 146

चराने के लिए कोसी के किनारे जाता है। जट्टिन घर में रहती है। दूध, घी और दही की बिक्री करती है। हिसाब रखती है सास या पति से झगड़ कर रूढकर जट्टिन अपने नैहर चली जाती है। जाट इसे ढूँढने जा रहा है। जट्टिन बड़ी सुन्दर थी, उसकी सुन्दरता की चारो ओर चर्चा हाती थी–

"सुनरी बाँस के छोकिनियाँ हो बाबू जी,
पातर बाँस के छोकिनियाँ हो बाबू जी।
गोरी हमार जटिनियाँ हो बाबू जी।
चाननी रात के इंजोरिया हो बाबू जी।
नान्ही–नान्ही दंतवा, पातर ठोरवा
छटके जेसन बिजलिया---।"[1]

वर्षा होने पर सोनाई यादव अपनी झोपड़ी मे बारहमासा का तान छेड देता है–

"एहि प्रीति कारन सेत बाँधल,
सिया उदेस सिरी राम हे।
सावन हे सखी, सबद सुहावन
रिमझिम बरसत मेघ हे। "[2]

सोनाय अब झूमर बारहमासा का गीत गाना प्रारम्भ करता है–

"अरे फागून मास रे गवना मोरा होइत
कि पहिरू बसती रग हे,
बाट चलेत–आ केशिया सँभारि बान्हू,
अँचरा हे पवन झरे हे ए ए ए ।"[3]

---

1 रेणु मेला आँचल पृ0 180–181
2 रेणु मेला आँचल पृ0–184
3 रेणु: मेला आँचल पृ0–185

प्रात काल होने पर सोनाय खेत मे गीत गाता है उसके साथ–साथ अन्य लोग भी विरहिन मैथिला गीत गाते है–

"आम जो कटहल, तूत जे बडहल
नेबुआ अधिक सूरेब।
मास असाढ़ हो रामा! पंथ जनि चढ़िहऽ,
दूरहि से गरजत मेघ रे मोर!"[1]

बादल गरजने और बिजली चमकरने से विरहणी का विरह और भी बढ जाता है–

"अडरे मास आसाढ हे। गरजे घन
बिजूरी–ई चमके सखि हे ए ए!
मोहे तजी कन्ता जाए पर–देसा आ ऊ।
कि उमडू कमला माई हे!
हैं ऽ रे ! हैं ऽ रे ।"[2]

जिनके कंत परदेश से लौट आए हे उनकी खुशी का क्या पूछना! झूलनी रागिनी उन्ही सोभाग्यवतियों के हृदय में मिलन के उल्लास से खेतों में झूम रही है–

"मास असाढ़ चढ़ल बरसाती
घर–घर सखी सब झूलनी लगाती
झूली गावे,
झूली गावति मंगलबानी
सावन सखि अलि हे मस्त जवानी
×   ×   ×
देखो, देखो।"[3]

---

1 रेणु. मेला आँचल पृ0 186
2 रेणु मेला आँचल पृ0 186
3 रेणु मेला आँचल पृ0 186–87

मेरीगंज गाँव के सथाल परगना के आदिवासी सथालो से अधिक जागरूक है। वे सोने ओर चाँदी में क्या फर्क हे जानते हे। बिहार सरकार के जमीदारी प्रथा के समाप्त करने की घोषणा से सथालों मे खुशी की लहर दोड जाती है। मादल और डिग्गा की ताल पर गीत गाते हे–

"सोनो रो रूप रूपे रो रूप
सोना रो रूप लेका गातेञ मेलाय
गातेञ उर्दूह्य जीवोदो लोकतित।"[1]

इस प्रकार "मेला आँचल" मे विभिन्न उत्सव गीत, नृत्य–गीत, ऋतु–गीत, पूजा–गीत एव वेयक्तिक सुख–दु खात्मक गीतो की अभिव्यक्ति हुई हे। नये–नये सन्दर्भो से नये–नये प्रकार विकसित हुए हे– जेसे कामरेड वासदेव का नया "भडोवा", सुराजी–गीत, किरोंती–गीत आदि। "मेला आँचल" में प्रयुक्त लोक–गीतो के सम्बन्ध मे डा0 शान्ति स्वरूप गुप्त लिखते हे– "लोकगीत उनका मनोरजन तो करते ही हे देनिक समस्याओ के विषय में सीधे–सीधे देहातियों की भावनाओ को व्यक्त करते हे।"[2]

रेणु के "परती"परिकथा" मे भी विभिन्न लोक–गीतों की अवतारणा हुई हे। कथा–गीत, नाट्य–गीत, नृत्य–गीत, उत्सव–गीत, पूजा–गीत, वेयक्तिक सुख–दु खात्मक गीत आदि सभी प्रकार के गीत यहाँ प्रस्तुत हुए हैं। परानपुर गाँव में शामा–चकेवा, करमा–धरमा, हाक–डाक जेसे त्योहारो पर गाये जाने वाले गीत कितने सवेदनात्मक हे जिनमे पंक्ति--पक्ति म लोकानुभूतियाँ गुँथी हुई हे।

परानपुर गाँव मे शामा चकेवा की राते बडी आह्लादक होती है। सार गाँव की स्त्रियाँ पूर्णिमा के दिन तीन–चार रातो तक खूब गाती हैं। गाँव की पढ़ी–लिखी मलारी पुराने गीत को नई तर्ज देकर गाती हे–

---

1 रेणु: मेला आँचल पृ0 173
2 शान्ति स्वरूप गुप्त– हिन्दी उपन्यास, महाकाव्य के स्वर पृ0–89

"गेहरी –ई–ई नदिया–या–या अगम बहे धारा–आ कि राम रे,
हँसा मोरा डूबियो नि जाये
रोयी–रोयी मरली–ई–ई चकेवा–वा, कि रामरे,
आ रे हँसा लौटी के आव---।"[1]

लीला और ताजमनी के कहने पर मलारी एक और पनकोआ वाला गीत गाती है–

"हाँ रे, पन–कउवा---
सावन–भादव केर उमड़ल नदिया
भाँसि गोल भैया केर बेडवा रे, पन–कउवा।
हाँ रे, पन–कउवा, मचिया बेसली मैया मने–मने गुनेछे,
भैया गइले बहिनी बुलावेले रे, पनकउवा----।"[2]

परती परिकथा मे आल्हाँ गीत का चित्रण हुआ है। इस गीत में इतना लय ओर मार्धुय होता है कि जिसे सुनकर बूढे भी जवान की तरह उत्तेजित हो जाते है–

"सुमरि भवानी जगदम्बा को
ओ काली को शीश नवाय,
हाल बखानू नेता जी का आ–आ–आ–आ,
अरे जिनकर भुजा रहल लहराय,
लहर–लहर लहराय जवानी–ई–ई–ई–ई।
डिडि–चट, डिडि–चट --- चटपटाक!"[3]

परती.परिकथा में तो कई गीतो के साथ वहाँ के परिवेश की कई लोक कथाएं भी सम्बन्धित है। वास्तव में उन्के गीतों की समाहिति बडी

---

1 रेणु परती·परिकथा, पृ0–203
2 रेणु परती:परिकथा पृ0–203
3 रेणु परती परिकथा पृ0 374–375

उपयुक्त बन पड़ी है। परती-परिकथा के लोक-गीत के सम्बन्ध मे कृष्णानन्द "पीयूष" कहते है- परती-परिकथा का आधार लोकगीत की भावभूमि है। फलत इसमे पूर्णिया जिले मे गाये जाने वाले गीतों का सुन्दर संकलन हुआ है।"[1]

नागार्जुन के बलचनमा मे माघ बीस रोज बीत चुका था। आम मजरने का समय आ गया था। फागुन के आगमन के पूर्व ही वातावरण में एक प्रकार की मादकता परिव्याप्त थी। आम के पेः के नीचे एक आदमी फाग गुनगुना रहा था-

"सखि हे मजरल आमक बाग।
कुहू-कुहू चिकरए कोइलिया
झींगुर गावए फाग!
कत हमर परदेस बसइ छथि
बिसरि राग-अनुराग।
विधि भेल बाय, सील भेल बेरी
फुटि गेला ई भाग!
सखि हे मजरल आमक बाग----"[2]

नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" मे रात के आखिरी पहर मे भेस की पीठ पर बेठकर चरवाहे ने तान छेडी

"उमर बीत गई
बाल पकने लग गये
पिछले बारह वर्षो से
इस आँचल में गाँठ-बाँध रखी हे मैने
आने का लेता हे तो भी नही नाम
निठुर मेरा दुसाध
राजा सलहेस प्रीतम मेरे!
तेरे नाम पर गाँठ बाँध रखी हे
अपने आँचल मे मेंने
ओ निठुर! निर्मोही!।"[3]

---

1 कृष्णानन्द "पीयूष" चितन- अनुचितन पृ0210

2 नागार्जुन बलचनमा पृ0 111

3 नागार्जुन बाबा बटेसरनाथ पृ0-35-36

नागार्जुन के "वरूण के बेटे" मे नीरस और खुरखुन कमला मेया का वन्दना-गीत गाते हे-

"ओ कोयला देवता
कमला नदी के बीचो-बीच
तेयार हो गया बाँध
तुमने उस बाँध पर फुलबाडी लगा दी हे
× × ×
अजी किस पर सवार होकर जायेगी मेया?"
× × ×
हँस पर चढकर आयेगी कमला मेया।
होकर मगर पर सवार चली जायेगी!
तिरहुत (मिथिला) की तरफ बहायेगी धारा!"[1]

मछुवारो के गीत में मछली, जो उनके जीवन का आधार है, का उल्लेख कई बार आता है। दारू-ताड़ी की मस्ती में भोला अक्सर गुनगुनाता है-

"मुगुरी को मात करती हे मेरी प्यारी
वो रगत और और वो चिकनापन
कहाँ से लायेगी मंगुरी बेचारी
मात करती है मंगुरी को मेरी प्यारी
मेरी जान! मेरी जान! मेरी जान।
निछावर है तुझ पे भोला के परान।।"[2]

गरोखर में महाजाल डाला जा चुका है। मछुवारे शारीरिक थकान को दूर करने के लिए काम करते समय गाना भी गाते जाते हे। गंगा सहनी अपनी जाति के महान पूर्वज सेनापति जयसिंह का चरित गुनगुना रहा था। बाये हाथ का पंजा बाये कान पर रखकर गंगा ने दाहिने हाथ को सामने फेला दिया और ऊँचे स्वर में

---

1 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0-49-50
2 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0-62

गाने लगा

"बडआ, खइयउने
आव ने खइयर बउआ जे सिड मतीचूर मिठाई ओ।
× × ×
ओ सिंहिनी माता, नहीं चाबूँगा पील–पके पान का बीड़ा
नही रहूँगा तेरे तट पर, मेनी मण्डप मे
भाग जाऊँगा लालपुर
लालपुर मे रोती हे जसमती, मेरी बहन
भाग जाऊँगा में दूर, बहुत दूर!"[1]

मछुए अब आखिरी बार जोर लगा रहे थे। काम खत्म पर था। इसी से समूह की वह विराटशक्ति आशा और उमग में विजयसूचक गाले दागने लगी–

"–ऊपर टान
– हुइयो।
–बाँए दबके,
–हुइयो।
ढील रस्सा
–हुइयो।"[2]

"वरूण के बेटे" में खलासी ओर पेटमेन बारहमासा के पद गुनगुना रहे थे–

"सावन हे सखि अति भयावन
निठुर पिय नहि पास, यो!
चपल दामिनि, विकल भामिनि
ककर करती आस यो।
मास भादो, कीच–काँदो–––"[3]

---

1 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0–53
2 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0–54
3 नागार्जुन वरूण के बेटे पृ0–79

लोक नृत्य

भारतीय ग्रामीण जन–जीवन मे लोक नृत्य की परम्परा आज भी विद्यमान है।" लोक नृत्य हमारे लोक–जीवन मे खुशी और आह्लाद लेकर उपस्थित होते हैं। विभिन्न पर्व एव त्योहारों पर भी इनका आयोजन होता है जैसे होली, दीवाली, दशहरा, नागपचमी, बसत आदि। गॉव मे ये नृत्य वहॉ की सामाजिकता एव सामूहिकता की भावना को और बलवती बनाने की भूमिका निभाते है।"[1]

रेणु के "मैला ऑचल" मे मेरीगज गॉव मे होने वाले विविध नृत्यों का बड़ा जीवन्त रूप प्रस्तुत हुआ है। वहॉ जालिमसिंह नाच, विदापत नाच, ठठर कम्पनी–नाच, विदेसिया–नाच, बलचाही–नाच, सथाली–नाच, विहला नाच आदि सभी प्रकार के नृत्य प्रचलित है। गॉव के विदापत–नाच मे गॉव के कुछ तथाकथित बडे आदमियों को छोड़कर सभी भाग लेते हैं। गॉव के कुछ पढे–लिखे लोग भी उसे देखना अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ मानते है। नाच मे मृदग, करताल, झाल सभी बजते है। गॉव के विभिन्न पात्र बड़ी अटपटी पोशाके पहनते है, बड़ी–बड़ी विचित्र आकृतियॉ बनाते है। ग्राम–समाज बड़े मुक्त–हृदय से आनन्द–विभोर हो उठता है। शामियाना आदि सब तनता है। सिंघ जी चलितरा को उत्साहित करते हैं तो नाच मे वह भी अपना मोर्चा जमाता है–

"ध्रिनागि धिन्ना, तिरनागि तिन्ना
धिनक धिनता तिरकत ग–द–धा!
आहे चलहु सखि सुखधाम, चलहू!
आहे कन्हैया जहॉ सखि हे,
रास रचाओल हे! चलहु हे चलहु।
    धिन्ना तिन्ना नात्रि धिन्ना!
आहे सिर बिरनाबन कुज गलिन में
कान्हु चरावत धेनु
×   ×   ×
    धिरिनागि धिरिनागि धिरिनागि
आहे! अबे ग्रिहे रहलो नि जाए, चलहु हे चलहु।"[2]

---

1 डा0 ज्ञानचन्द गुप्त स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम–चेतना पृ0 230

2 रेणु मैला ऑचल पृ0 79–80

रेणु के परती-परिकथा में सुन्दरि नेका पूर्णिमा की चाँदनी में ताड़ की फुगनी के पास नाचती है–

"छम्म–छम्आँ–आँ।
करिके सोलहो सिंगार
गये मोतियन के हार
केशिया धरती लोटाय
चुनरी मोती बरसाय
चुन्नी पन्नाँ बिखराय–य, छम्म–छम्मा नाचे सुन्दरि नेका।
आँख मारे।   रे भेर्रा–आ–ह दाँत मा रो–ओ।"[1]

रेणु के "जुलूस" मे "कारे मण्डल और रब्बी पासमान वाला लखिन्दर–बेहुला नाच में नटुआ थे। करीब तीस साल पहले इस इलाके मे यह नाच खूब चला था। बगला पाला।"[2] बेहुला नाच के पुराने मूलगैन है तालेवर गोढ़ी।"[3] नाच के समाजियों ने मूलगैन कारे के साथ गीत गाना शुरू किया। खोल और करताल बजने लगे।

चाँदों बनिया साजिलो बारात ओ–रे–चाँदो
बनिया रे–ए–ए–ए–ए–ए।
अरे एक लाख हाथी साजिलो, दुई लाख घोडा
हाथीर ऊपर होथा साजे चाँदो अधिकारी
ओ–रे–चाँदो बनिया–रे–ए–ए–ए।"[4]

लखिन्दर बना है धानुक टोली का अनूपलाल। बरात के लोग भी नाच के समाजी है इसलिए गीत की लय पर खोल के ताल पर सभी नाच रहे हैं। गाड़ी हाँकने वाले भी ताल पर ही गाड़ी हांक रहे है। घोड़ पर बेठे लोग ताल पर ही देह हिला रहे है। गाँव मे ऐसा नाच कभी नही हुआ पहले।

---

1 रेणु. परती परिकथा पृ0 150
2 रेणु जुलूस पृ0–20
3 रेणु जुलूस पृ0–76
4 रेणु जुलूस पृ0–94

लोक नृत्य

भारतीय ग्रामीण जन–जीवन मे लाक नृत्य की परम्परा आज भी विद्यमान है।" लोक नृत्य हमारे लोक–जीवन मे खुशी और आह्लाद लेकर उपस्थित होते हैं। विभिन्न पर्व एव त्योहारो पर भी इनका आयाजन होता है जेसे होली, दीवाली, दशहरा, नागपचमी, बसत आदि। गाँव मे ये नृत्य वहाँ की सामाजिकता एव सामूहिकता की भावना को और बलवती बनाने की भूमिका निभाते है।"[1]

रेणु के "मैला आँचल" मे मेरीगज गाँव मे होने वाले विविध नृत्यो का बडा जीवन्त रूप प्रस्तुत हुआ है। वहाँ जालिनसिह नाच, विदापत नाच, ठेठर कम्पनी–नाच, विदेसिया–नाच, बलचाही–नाच, सथाली–नाच, विहला नाच आदि सभी प्रकार के नृत्य प्रचलित है। गाँव के विदापत–नाच मे गाँव के कुछ तथाकथित बडे आदमियों को छोड़कर सभी भाग लेते है। गाँव क कुछ पढे–लिखे लोग भी उसे देखना अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ मानते है। नाच मे मृदग, करताल, झाल सभी बजते है। गाँव के विभिन्न पात्र बड़ी अटपटी पोशाके पहनते है, बड़ी–बड़ी विचित्र आकृतियाँ बनाते है। ग्राम–समाज बड़े मुक्त–हृदय से आनन्द–विभोर हो उठता है। शामियाना आदि सब तनता है। सिंघ जी चलितरा को उत्साहित करते है तो नाच में वह भी अपना मोर्चा जमाता है–

"धिनागि धिन्ना, तिरनागि तिन्ना
धिनक धिनता तिरकत ग–द–धा!
आहे चलहु सखि सुखधाम, चलहू!
आहे कन्हैया जहाँ सखि हे,
रास रचाओल हे! चलहु हे चलहु!
धिन्ना तिन्ना नात्रि धिन्ना!
आहे सिर बिरनाबन कुंज गलिन मे
कान्हु चरावत धेनु
× × ×
धिरिनागि धिरिनागि धिरिनागि
आहे।अबे ग्रिहे रहलो नि जाए, चलहु हे चलहु।"[2]

---

1 डा0 ज्ञानचन्द गुप्त स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम–चेतना पृ0 230

2 रेणु मेला आँचल पृ0 79–80

नरेश वर्मा के अथक प्रयास से धागडों के नाच का दिल्ली मे प्रदर्शन होता है। "पूर्णियाँ जिले मे युगो से बसे हुए इन धागड़ों ने कभी किसी दिक्कू (गैर धाँगड) को अपने नाच मे शरीक नहीं किया। नरेश वर्मा ने धागड टोली के मुखिया का दिल न जाने केसे जीत लिया। नाच शुरू हुआ–

"मादल बजा नाच दल का
बासुरी बोली
× × ×
युवतियाँ एक दूसरे के कन्धे पर हाथ रखकर घेरा बनाती है
पुरूष सामने की पक्तियो में विभिन्न वेष मे
मादल और बाँसुरी वाला बीच मे– सिर मे मोर पुच्छ खोसे
डाडिगा–डाडिगा–डडिग्गा।
कौन बने किश्ना बँसिया बजावे
कौन बने गइया चराबे मोहना– हे रे। हे रे– हे रे
डाडिगा–डाडिग्गा"[1]

पवित्रा किसी दूसरे लोक मे पहुँच गयी। मादल और डिग्गा की आवाज खोल और करताल के सुर में खो गयी है। यह नृत्य धागडो में सामूहिकता की भावना को और बलवती बनाता है।

लोक कथाएँ

लोक मानस मे प्रचलित कथाएँ लोक कथाएँ होती है। कथा को गीत मे ढ़ाल कर सुनाई जाती है। रेणु के "मैला आँचल" के मेरीगज गाँव में अनेक लोक कथाएँ प्रचलित है– सुरंगा–सदा–ब्रिज की कथा, कुमर बिज्जेमान की कथा, लोरिका की कथा, कमला मैया की कथा, कोआ कथ की कथा आदि। विविध सन्दर्भो मे प्रस्तुत हुए विवरण लोक–रग की छटा बडे ढग से उभारते हैं। मेरीगज के तत्रिया टोले में महगूदास के घूर के पास लोग जमा है। तत्रिया टोले मे खलासी जी द्वारा लाया मोरंगिया (नेपाली) गाँजा खूब फूंकता है, गाँव के बीमार लोगो की झाड़–फूँक भी होती है। सुरग–सदाब्रिज की कथा में सदाब्रिज पर आसक्त स्त्री की कथा सुनाई जाती है–

---

1 रेणु जुलूस पृ0 110–111

"नहि तोरा आहे प्यारी तेग तरवरिया से,
नहीं तोरा पास में वीर जी।

एक सखी ने पूछा कि हे सखी, तुम्हारे पास न तीर है न तलवार

नही तोरा आई प्यारी तेग तरवरिया से
कोनहि चीजवा से मारतू बटोहिया के
धरती लोटा बोला बेपीर जी–ई–ई–ई।

यह सुनकर जो स्त्री सदाब्रिज पर आसक्त रहती है बोली–

सासू मोरा मरे हो, मरे मोरा बहिनी से
मरे ननद जेठ मोर जी।
मरे हमार सबकुछ पलिबरवा से,
फसी गइली परेम के डोर जी।

इतना कहकर वह सदाब्रिज के पास आई ओर पानी पिलाकर प्रेम की बाते करने लगी।

आजु की रतिया हो प्यारे, यही बिताओ जी।"[1]

गाँव के नर–नारी बडे शौक से सुरगा–सदाब्रिज की कथा का रसपान करते है। कथा के मध्य स्त्रियो के पारस्परिक झगड़े भी उस कथा की तल्लीनता में डूबे लोक मानस का ध्यान विचलित नही कर पाते।

मेरीगंज गाँव में शाम के समय घूरे के पास "लोरिक" या "कुमार बिज्जमान" की गीत कथा होती है–

---

1 रेणु मेला आँचल पृ0–57

"अरे राम राम रे देवा रे हसर रे महादेव,
बाये ठाढी देवी दुरगा दाहिन बोले काग।
अपने मन ये सोच करेये मानिक सरदार
बान से नाही माने कन्नोजिया गुआर।"[1]

रेणु के "परती परिकथा" के परानपुर गाँव मे अनेक लोक-कथाएँ रानी-डूबी-घाट, दुलारी दाय, परगना हवेली घाना, सुन्नरि नेका, शामा-चकेवा आदि, प्रचलित है। परानपुर गाँव की इस व्यथा-भरी बंध्या परती धरती की भी एक कथा है, जिसे उसकी छोटी-मोटी नदियाँ आज भी चार महीने तक भरे गले से, कल-कल सुर मे गाकर सुनाती है लेकिन इस व्यथा कथा को केवल प्रकृति ही समझ पाती है। इनके अतिरिक्त सुरंगा-सदाब्रिज, होरिल सिह, घुघली घटवार, टोला-मारू, चन्ननियाँ आदि गीत-कथाएँ भी वहाँ के ग्रामीण परिवेश मे प्रचलित है।

सुन्नरि नेका की कथा का प्रसग रग्घू रामायनी के सिवाय कोई नहीं जानता। सुन्नरि नेका की कथा अत्यन्त मार्मिक कथा है और उसके सुनाते सुनाते रग्घु रमायनी की आँखो के आँसू टपकते होते और उनकी सफेद दाढी के भीग जाती।" कुंड खुदाई की असली कथा है- सुन्नरि नेका। गाँव के दक्खिन-पूरब कोने में सुन्नरि नेका की डीह है। नेका डीह। सुन्नरि नेका की गीतो-भरी कहानी तो रग्घू को सपने में मिली है। कोई नहीं जानता। जानेगा कैसे? पूरी गीत--कथा किसी ने सुनी ही नहीं।"[2] सुन्नरि नेका की कथा प्रारम्भ से पहले विविध सस्कार भी आवश्यक हैं। सुन्नरि नेका की एक प्रसग है जिसमें सहस्र राक्षसों के आगमन से पृथ्वी ओर आकाश की स्थिति का ध्वन्यात्मक बिम्ब प्रस्तुत हुआ है-

"धरती डोल गयी भाइयो घर-घर=पट-पट, पट-पट-पाट,
घडिग घडिगा गिड़पत गाग्
कुहाँ-कुक्काँ
जी, घड-घड़के धरती माप,
धडक-धड़ा-धड़-हाय रे बाप,
थरक-थरा-थर थारिया जेसन-
थर-थर काँपे चान,
कि पातालपुरी में लुकनियाँ पनियाँ रे-ए-ए,

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0-142

कि रे रघुआ रे–ए–ए, जगहो खोजि न पावे।
कुँक्कॉं–कुहॉं "[1]

रेणु में लोक–कथाओं को मात्र संग्रह करने की ही क्षमता नही अपितु उनके सर्जन ओर उन्हे अद्भुत तौर–तरीको से अभिव्यक्त करने की भी गहरी जानकारी है।

लोक नाट्य

रेणु के "परती परिकथा" मे "परानपुर" नाम की नाट्य समिति ग्राम मे सास्कृतिक सोना विकसित करने का प्रयास करती है।"[2] लोक नाट्य मे समसामयिक समस्याओं का भी चित्रण रहता है। मनोरजन के साथ समस्याओं से साक्षात्कार होता है। परती परिकथा के लोक नाट्य पर डा0 रामगोपाल सिंह की टिप्पणी है कि "जितेन्द्र के द्वारा आयोजित नाटक "पंचचक्र" में कोसी के प्रकोप मे डूबते हुए गाँव, बहती हुई लाशे, चीख–पुकार से लेकर बॉध बाँधने के सघर्ष तथा परती के फसल के लहलहाने तक के दृश्यो में उपन्यास की समस्त कथा के मर्म को अपनी समस्त गहराई के साथ उभार कर भविष्य की कल्पना को साकार रूप प्रदान कर जनता में नई आशा का संचार किया है।"[3]

शैक्षणिक चेतना

आधुनिक जगत मे राष्ट्रीय उत्थान का एक मात्र आधार शिक्षा है। शिक्षा ही एकमात्र साधन हे जिसके द्वारा कोई व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र अपनी आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक उन्नति कर सकता है। वह नवीनतम उपलब्ध ज्ञान का प्रसार एव विकास करती है। ग्रामीण–शिक्षा उत्तरोत्तर फेल रही है। जिससे ग्राम–जीवन मे नवीन जागृति एव अधिकार बोध आया है। अज्ञान ओर अशिक्षा जनित परम्पराएँ दिनोदिन टूट रही हे ओर गाँव विविध सन्दर्भो में नूतनता प्राप्त कर रहे है। ग्रामीण शिक्षा के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं। उनके मनोभावों में और उनकी दृष्टियो म शिक्षा की उपयोगिता स्पष्ट हुई है।

---

1 रेणु परती परिकथा पृ0–148
2 रेणु परती परिकथा पृ0–360
3 डा0 राम गोपाल सिह आधुनिक हिन्दी साहित्य पृ0–225
उद्धृतकर्ता, डा0 मृत्युन्जय उपाध्याय हिन्दी मे आँचलिक उपन्यास

नागार्जुन के "बाबा बटेसरनाथ" के रूपउली ग्राम मे शिक्षा के प्रति आकर्षण बढ रहा है। गाँव मे लोग उत्साह से पढ़ने लगे है। इसी का विवरण तो बाबा बटेसरनाथ जैकिशुन को देते हुए कहते है कि, "तेरी जाति-बिरादरी के लोग भी पढने-लिखने लगे हैं। कुछ तो अच्छे ओहदों पर भी पहुँच गये हैं। कई अब असेम्बली के मेम्बर भी है पहले जमाने मे ज्ञान-विज्ञान और पढ़ाई-लिखाई बडी जाति वालों की बपोती थी। अब पाठशालाओं और स्कूल के दरवाजे सभी जातियों के बच्चों के लिए खुल गये है। मगर ऊँची जात वालों का आपसी पक्षपात और शुभलाभ के लिए उनकी आपाधापी जब तक मौजूद रहेगी तब तक मानव समाज की सामूहिक प्रगति नहीं होगी।"[1] बाबा बटेसरनाथ के इस कथन में दो बातें स्पष्ट है- शिक्षा की सार्वजनिकता और उसमें चल रही आपाधापी की प्रवृत्ति। उच्च वर्ग की आपाधापी के मनोवैज्ञानिक कार्य और कारण हैं। अहम् की टूटन मे इस प्रकार की विसंगतियाँ स्वाभाविक है।

रेणु के "जुलूस" मे दीपा की विधवा माँ के मन मे अपनी दीपा को पढ़ाने की ललक है। वह इसके लिए समाज से भी टक्कर ले सकती है। उसकी शैक्षणिक-चेतना द्रष्टव्य है जब वह अपने पहलवान जेठ को कहलाती है कि, "दीपा, पहलवान बाबा से कहो कि लोग जो कुछ कहे, मे दीपा को लड़के का लिबास पहनाती हूँ। पहनाऊँगी। वनस्थली विद्यापीठ में भेजकर लाठी, भाला, घुड़सवारी की ट्रेनिंग दिलवाऊँगी। अब लोग जो भी बोले।"[2] यह दृढ मानसिकता विधवा माँ की ही नहीं है अपितु पहलवान जेठ भी नये विचारो के प्रति जागरूक है नही तो वे यह न कहते, "लोक साला क्या बोलेगा? मारते झापड से "थूथना" झाड देंगे।"[3] देश के गाँव-गाँव में शिक्षा की हवा फैल गयी है। युवक और युवतियाँ सभी इसके महत्व को पहचानने लगे है।

रेणु के "परती परिकथा" मे भी नारी-शिक्षा के स्वर विद्यमान है। परानपुर के हरिजन महीचन की लडकी मलारी शिक्षा ही नहीं पाती अपितु शिक्षा देने का उत्तराधिकार पा वह गाँव के स्कूल मे अध्यापिका लग जाती है। गाँव के सुवशलाल से उसके प्रेम-सम्बन्ध हो जाते हैं और एक दिन उसकी परिणति यह होती है कि

---

1 रेणु जुलूस पृ0-75

2 रेणु जुलूस पृ0-76

दोनो गॉव छोडकर भाग जात हे ओर अन्तर्जातीय सिविल विवाह कर लेते है। लोक–चेतना मे नारी–शिक्षा अभी रस–बस नही पाई है। अपने अज्ञान के कारण लोग उसे बुराई का कारण मानते हैं। मलारी की शिक्षा सारे गॉव की ऑखों मे किरकिरी की भॉति खटकती हे। उस समय स्थिति ओर भी भयकर हो जाती हे जब वे दोनो भाग जाते हैं। "घाट–बाट, खेत–खलिहान, डगर–सड़क, ओर गली–गली मे बस एक ही चर्चा हद हो गयी। जुल्म हो गया। जित्तन का भी कान काट लिया। हरिजन उद्धार हो गया।"[1] गॉंवों मे नारी शिक्षा के प्रति उदासीनता ही परिव्याप्त है। लेकिन शिक्षा ने लोक चेतना को प्रभावित किया हे इससे इन्कार नही किया जा सकता।

*****

उपसंहार

लोक चेतना अनेकता मे एकता क स्वरा का सयोजन एवं उद्घाटन करने वाली परम्परित एव प्रगतिशील मानसिकता है। लोक चेतना अपने मूल स्रोत आदिम प्रवृत्ति से कभी अविच्छिन्न नही हुई साथ ही उसने युगीन प्रभावों के सहज रूप में ग्रहण किया। लोक चेतना अपनी सांस्कृतिक प्रक्रिया मे विकसित रूप धारण करती हे और लोक-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अभिव्यक्त होती है। लोक चेतना के विविध आयाम हैं जेसे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एव सांस्कृतिक। रेणु और नागार्जुन के उपन्यास मिथिलांचल के जन सामान्य की चेतना के इन विविध आयामो और यथार्थ के विभिन्न आवर्तो के उद्घाटन मे संलग्न दृष्टिगत होते है। रेणु और नागार्जुन ने मिथिलाचल के लोक मानस मे व्याप्त रूढ़ियो को उजागर कर जीवन के नये तरीके, नवीन आकाक्षाआ क प्रतिपादन की पहल करके अपने सामाजिक दायित्वबोध को निभाया है।

लोक-जीवन मे राजनीतिक चेतनागत विषम आवर्तो की स्थिति मुख्यत स्वतत्रता के पश्चात् ही आई है। रेणु और नागार्जुन के उपन्यास स्वतत्रता प्राप्ति के लिए संघर्षो मे जूझती मिथिलाचल की ग्रामीण जनता और उनकी सघर्षशील मानसिकता को प्रतिपादित करते हे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की स्थितियाँ तो और भी सघन होकर इनके उपन्यासो में विवेचित हुई है। पचायतीराज ने तो गाँव को ही आन्दोलित कर दिया है, जिनके कारण गाँव-गाँव मे चेतना ही दृष्टिगत नही होती अपितु राजनीतिक-वार्ताएँ, जुलूस, सभाएँ, प्रदर्शन आदि भी दृष्टिगत होते है। जागीरदारी एव जमींदारी-उन्मूलन भी एक राजनीति-प्रेरित कदम था जिसने लोक-चेतना को उभार दिया। युगो-युगो से पीडित किसान, जमीदारो के विभिन्न अत्याचारो एव अनाचारो से दुखी थे। जमीदारी-उन्मूलन होते ही उन्हे राहत मिली। लेकिन यह राहत भी स्थायी न बन पायी। रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य म उन्मूलन और तदन्नतर की स्थितियो के बड़े मार्मिक दृश्य उपस्थित हुए है। सत्ता उन लोगों के हाथ लगी हे जिन्होने बहुत अत्याचार किए हे और वे अब किसी न किसी तरह जनता को परेशान करने मे लगे हैं। ग्रामीण परिवेश मे सामतवादिता की प्रवृत्ति का ह्रास हुआ है। रेणु और नागार्जुन के कथा साहित्य मे सामंतीय टूटन का विस्तृत व्योरा प्रस्तुत हुआ है। गाँव के पचायती चुनाव ही वस्तुत वहाँ की राजनीति

मे सश्लिष्टता प्रदान करते है। अज्ञान और अशिक्षा की जकड अभी उनसे हट नही पाई है और चुनाव कही जाति से, कही धर्म से और कही सम्प्रदाय से बँधकर सम्पन्न होते है। चुनावों में राजनीतिक छल–कपट, भ्रष्टाचार ऊँच–नीच आदि सभी कुछ शहरों की भाँति आ गया है। गाँव विभिन्न दलो में बँट गये है। पारस्परिक सोहार्द एव एकता की अनुभूति ईर्ष्या ओर दलबन्दी मे बदल गयी है। नये–नये षडयत्र इस राजनीतिक जीत के लिए गाँव की धरती में रचे जाने लगे है। रेणु और नागार्जुन ने एक समीप–दृष्टा के रूप मे लोक–जीवन की समस्त संगति–विसगतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इनके उपन्यासो के चुनाव दृश्य बड़े ही जीवन्त एवं सश्लिष्ट बन पड़े है जो लोक–जीवनगत राजनीति की विभिन्न परतो को उधाडते है। प्रजातांत्रिक शासन–प्रणाली से ग्रामो मे समाजवादी चेतना का उदय हुआ। गाँव का खतिहर–मजदूर–वर्ग अपने पारिश्रमिक के प्रश्न पर थोडा उग्र है। यद्यपि वर्ग–संघर्ष की आधार–भूमि गाँव ही है लेकिन भारतीय गाँवो की प्रकृति मे यह अभी रच–वस नहीं पाया है। असतोष अभी बहुत कुछ आन्तरिक है। रेणु और नागार्जुन ने परिवेश के स्वरो को सुना ही नही पहचाना भी है और उचित परिप्रेक्ष्य मे उन्हे वाणी दी है।

रेणु और नागार्जुन ने अपने कथा--साहित्य मे मिथिलाचल के सामान्य जनता की राजनीतिक जागरूकता एवं आक्रोश का सजीव अकन करके सराहनीय कार्य किया है। रेणु और नागार्जुन का उद्देश्य सामान्य जनता को मानवतावाद और प्रगतिवाद के पथ पर अग्रसर करना है। यहाँ रेणु अलग तरीका अपनाते है और नागार्जुन अलग। राजनीतिक अवसरवादिता, भ्रष्टाचार, जातीयता, स्वार्थवादिता को दूर करने में रेणु ने राजनीतिक मतवाद से दूर ग्रामों के पुनर्निर्माण के मानवतावादी मार्ग के महत्व को स्वीकार किया है। रेणु को पूर्ण विश्वास है कि राजनीतिक स्वार्थ एव पाखण्ड कभी सफल नही हो सकता। न क़ोरा आदर्शवाद ही सफल हो सकता है। सरलता, सहानुभूति एव उदारता उच्चवर्ग मे स्वत ही आ जाती है और अन्त मे सफल होती है। रेणु ने कूटनीति के विरोध में सरलता तथा प्रतिहिसा के विरोध में प्रेम की सफलता का सन्देश अपने कथा–साहित्य के माध्यम से दिया है। रेणु को विश्वास है कि मिट्टी और मनुष्य की मोहब्बत किसी लेवोरेटरी में नही बनती वह बन सकती है गाँव के सरल वातावरण मे है, अत गाँव की ओर लोटो

और प्यार की खेती करो। इसी मे मानवता का विकास एवं उनकी सुरक्षा निहित है। गाँवों मे व्याप्त राजनैतिक अराजकता क समाप्त होने का रेणु को विश्वास है। रेणु जी एक स्थान पर स्वय लिखते है "यह अन्धेर नही होगा। मानवता के पुजारियो की सम्मिलित वाणी गूंजती है, पवित्र वाणी। उन्हें प्रकाश मिल गया है--- प्रेम और अहिसा की साधना सफल हो चुकी है। फिर कैसा भय ? विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढकर शक्तिशाली है।"[1] रेणु को किसी व्यक्ति विशेष की इतनी चिन्ता नही है जितनी समस्त गाँव के रोग, विपन्नता, अज्ञान को दूर करने की है। इस चिन्ता एव चिन्तन मे उनकी मानवतावादी दृष्टि परिलक्षित होती है।

गाँवों में व्याप्त राजनैतिक अराजकता को दूर करने के लिए नागार्जुन साम्यवादी विचारधारा का आश्रय लेते है। किसी प्रकार के शोषण के विरूद्व नागार्जुन में तीव्र आक्रोश विद्यमान है जो उनकी कथावृत्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। साम्यवादी विश्वास करते है कि शोषण और श्रम का सघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक शोषण और उसके सभी साधन समाप्त नही हो जाते। शोषण और शोषित के बीच सघर्ष का सजीव अंकन उनके सभी उपन्यासो मे किया गया है। मानवतावाद का स्वर उनके उपन्यासों मे पूर्ण मुखर है। इसी कारण उन्होंने राजनीतिक शोषण के शिकार पात्रो का भी चित्रण किया है। इतना ही नहीं उन्होने अपने जनवादी विचारो के कारण इस चित्रण में विशेषता भी ला दी है। उन्होने जन-साधारण को वाणी देकर के न केवल प्रेमचन्द की परम्परा पुनर्स्थापित की वरन् उसे आगे भी बढ़ाया। बलचनमा, विसेसरी और गाँव के नोजवान टूट सकते हैं पर झुक नहीं सकते। इस प्रकार नागार्जुन ने भारतीय किसानो और जन-साधारण मे छिपी शक्ति का यदि दर्शन कराया है तो इस कारण कि नागार्जुन की अपनी विशिष्ट विचारधारा थी। साम्यवादी विचारो से अनुप्राणित होने पर भी नागार्जुन का स्वर आस्थावादी है इसीलिए नागार्जुन मे ही पहिली बार भारतीय जनता को जगाने के लिए मजदूर एवं किसान आगे बढ़े है।

रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य मे लोक चेतना के सामाजिक आयाम की अधिव्यक्ति प्रभूत मात्रा मे हुई है। मिथिलांचल के लोक जीवन की सामाजिक संगति-विसगतियो, कुरूपताएँ और छवियाँ,

---

1 डा0 सुषमा धवन हिन्दी उपन्यास, पृ0 85

बनती–बिगडती मूल्यवत्ता, टूटते–जुड़ते सम्बन्धो, वर्ग–तनावों एवं सघर्षो आदि के विविध स्तरों से उसका रूपायन हुआ है. गाँव का वर्तमान सामाजिक जीवन परिवर्तित सन्दर्भो मे नई मूल्यवत्ता ग्रहण करता हुआ गतिशील है। मूल्य एक–दूसरे से टकरा–टकराकर टूट रहे हैं और कही उनसे बँधे व्यक्ति को तोड रहे है। परम्परावादिता के विरोध एव मूल्यो के अवमूल्यन से ग्राम–गधी–परिवेश मे नवीन नैतिक स्थितियो का जन्म हुआ है। नैतिक मान्यताए एव आचार–संहिताएँ विभिन्न सन्दर्भो में कही कही अर्थहीन सी दृष्टिगत होती है। रेणु और नागार्जुन ने अपनी अनुभवशीलत और परिस्थितियों के प्रत्यक्ष साक्षात्कार से गाँव के आन्तरिक सम्बन्धो एव जीवन–मूल्यों के घात–प्रतिघातो को यथार्थपरक अभिव्यक्ति देकर अपनी समाजशास्त्रीय दृष्टि का परिचय दिया है। गाँव के सामाजिक सम्बन्धो में चारों ओर तनाव ही तनाव दृष्टिगत होते है। व्यक्ति, परिवार और समाज मे इन सम्बन्ध–तनावों के कारण विघटन हो रहा है। व्यक्ति आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व में टूट रहा है। माता–पिता और संतान, पति–पत्नी, भाई–भाई आदि सभी रिश्तो मे एक दूसरे के प्रति तनाव आये है। भौतिकता की दृष्टि का उन्मेष हुआ है। सयुक्त–परिवार टूट रहे है। आज गाँव के भी लोग अपने सुख–दु खो की नियति अकेले झेलने के लिए विवश होते है। रेणु ओर नागार्जुन का सामाजिक दायित्व बोध इन नवीन स्थितियो के प्रत्यंकन मे निहित है। गाँव के प्राकृतिक परिवेश में शहरी–सभ्यता के संक्रमण एव विज्ञान प्रदत्त जन सचारी साधनो, जेसे– रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा आदि ने योन–चेतना को ओर भी गतिशील किया है। गाँव का प्राकृतिक परिवेश तथा गाँव का सरचनात्मक सामाजिक स्वरूप दोनो ही योन सम्बन्धो की नई रिथतियो की उत्पत्ति और उनसे उत्पन्न नई मानसिकता के द्योतक है। छोटी–छोटी आयु मे ही योन–चेतना का उदय होने लगता है। गाँव की छोटी–बड़ी जातियो के पारस्परिक योन–सम्बन्धो को भी रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में बड़ी कुशलता के साथ अंकित किया गया है। इन नये सम्बन्धो से गाँव की पवित्रता का परम्पराजन्य भाव हिल उठा है। इन योन सम्बन्धो ने कही संघर्ष दिया है कही परम्पराओं को तोड़ा है और कहीं व्यक्ति के हाथो से मूल्यो को छीन लिया है। लोक–परिवेश की सामाजिक चेतना मे विवाह और नारी की स्थिति भी विचारणीय है। स्वतंत्रता के पश्चात बाल–विवाह एव अनमेल–विवाह की प्रवृत्ति का गाँवो मे ह्रास हुआ है। तथा विधवा विवाह का प्रचलन मन्थर गति से

प्रारम्भ हुआ है। अभी ग्रामीण नारी का भाग्य बहुत कुछ उसके माता-पिता एवं परिवार के हाथ मे है। शिक्षा का प्रसार अभी पूरी तरह नही हो पाया है। नगरीय सभ्यता के संक्रमण, यत्किचिंत शिक्षा-प्रभाव एव अन्य सामाजिक राजनीतिक कारणों से आज गाँव की नारी की स्थिति मे भी कुछ परिवर्तन आया है। अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचलन लोक-परिवेश में एक नव्यता है। गाँव मे मुख्यत दो ही वर्ग हैं- एक में जमीदार या बडे किसान और दूसरे वर्ग मे छोटे किसान तथा भूमिहीन मजदूर। नई शासन व्यवस्था, मँहगाई, बेकारी एवं निर्धनता आदि कुछ ऐसे कारण है जिन्होंने लोक मानसिकता मे उष्मा का सचार किया है। कहीं एक-दूसरे का पारस्परिक व्यवहार उनके अहं से टकराता है, कही आर्थिक मजबूरियो मे फँसे ये लोग अधिक मजदूरी की माँग करते हैं, तो तनाव बढ़ता है। रेणु ओर नागार्जुन ने इनकी जीवनगत समस्त विसगतियो एव जटिलताओ को स्वर देन का प्रयत्न किया है। वर्ग-चेतना के विविध चित्र रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य मे बडे ही जीवन्त बन पड़े है। नेता ओर सरकारी अफसरो की शोषणकारी ओर स्वार्थी प्रवृत्ति का **सजीव अंकन रेणु** और नागार्जुन के **कथा-साहित्य** में किया गया है। इस प्रकार रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य में मिथिलांचल के सामाजिक जीवन की जो प्रमाणिक पहचान उभरकर सामने आयी है वह समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियों को नये वैचारिक आयाम प्रदान करती है।

लोक चेतना के आर्थिक पक्ष में आर्थिक बोझ, अभावजन्य-तिक्त-अनुभव, विविध-सगतियाँ, विसंगतियाँ आदि आती हे जिनसे उनकी चेतना निर्मित होती है। वर्तमान जीवन की जटिलताए मूलत अर्थमूला है। देश के बहुआयामी-विकास हेतु बनी पचवर्षीय योजनाओ मे ग्राम-विकास की ओर ध्यान रखा गया है। समसामयिकता के प्रति जागरूक रेणु और नागार्जुन ने राष्ट्रीय विकास हेतु बनी इन योजनाओ एव उनके द्वारा किये गये ग्राम-विकास -कार्यो को अपने उपन्यासो मे यत्र-तत्र मूल्याकन का विषय बनाया। इन विकास-कार्यो की प्रभाव परिणति लोक मानसिकता मे स्पष्ट दृष्टिगत होती है। इन विकास-कार्यो ने लोक को नई मूल्यवत्ता, नये-सम्बन्ध एव जीवन के नये प्रतिमान प्रदान किये हैं। योजनाओ के सैद्धान्तिक-पक्ष एव व्यावहारिक पक्ष दोनो मे पर्याप्त दूरियाँ हैं। सवेदनात्मक स्थितियों के प्रत्यंकन से

रेणु और नागार्जुन ने इस ओर नेताओं एवं राष्ट्रीय नियोजन कर्ताओ का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। कुटीर-उद्योग मे ग्राम विकास की अनन्त सभावनाएं है। देश की बेकारी, गरीबी, अकर्मण्यता आदि सभी कुछ इसी से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जुडी समस्याएँ है। गाँवो म कृषि सम्बन्धी अनेक कार्य वैज्ञानिक ससाधनों से होने प्रारम्भ हो गये है। ट्रैक्टर, थ्रेसर, ट्यूबवेल आदि प्रयोग मे आने लगे है। सिचाई योजनाएँ, परियोजनाएँ भी चल रही है ताकि किसानों को वर्षा के लिए आकाश की ओर न झांकन पडे। इस सबके अतिरिक्त लोक-परिवेश की कुछ अन्य विसंगतियाँ रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य मे उभर कर आयी है जैसे सरकारी मशीनरी मे भ्रष्टाचार, गाँव की दलबन्दी, सुविधाओ का असमान वितरण आदि। लोक की आर्थिक-चेतना के बेकारी और निर्धनता दो संक्रामक रोग है। लोक में व्याप्त बेकारी निर्धनता का कारण है। रोजगार के अवसर और भूमि मे कोइ वृद्वि न होने के परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर निर्धनता में वृद्वि हुई है। ग्रामीण जनता आजीविका के तलाश मे गांव से शहर की ओर पलायन कर रही है। महगाइ दूज के चाँद की तरह बढी चली जा रही है। आज समय आ गया है कि देश के नेता इन समस्याओं की भयावहता पर गहन विचार करे अन्यथा समय स्वय मजबूर होगा- इनके प्राकृतिक समाधान के लिए। भूमि सम्बन्धी विषमताओ ने छोटे-बड़े किसानों मे दूरियाँ पेदा की है, नये सम्बन्ध बोध को विकसित किया है। जमीदारी उन्मूलन ने गाँव के तथाकथित मुखिया-वर्ग को समाप्त कर निम्न वर्ग को राहत दी है। उनमें निजत्व का अहसास हुआ है। किसान और भूमिहीन मजदूर मे भी आज नवीन परिस्थितियो में तनाव आया है। सरकारी स्तर पर आयोजित भूमि-सुधारों ने गाँव को ईर्ष्या, द्वेषभरी नयी मानसिकता प्रदान की है। चकबन्दी ने गाँव के पारस्परिक सम्बन्धो मे हदबन्दी कर दी है। उनकी सामूहिकता विखण्डित हो रही है। भू-दान आन्दोलन लोक-चेतना को अधिक आन्दोलित नहीं कर पा रहा है। रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य में मिथिलांचल के लोक चेतना के विभिन्न आर्थिक पहलुओ को बडी अनुभवशीलता एवं प्रमाणिकता के साथ प्रतिपादित किया गया है जो निस्सन्देह ग्राम-विकास नियोजकों कों एक यथार्थ की राह का निर्देश देते हैं।

रेणु और नागार्जुन के कथा-साहित्य में लोक-चेतना के धार्मिक एव सांस्कृतिक आयाम की अभिव्यक्ति हुई है। आज के परिवर्तित वातावरण में धर्म के प्राचीन प्रतिमान बदल रहे है। सामाजिकता मे ही धर्म का पर्यवसान हो

रहा है। धर्म का सम्बन्ध ईश्वर से टूटकर मनुष्य स जुड़ रहा है अत मानव धर्म की प्रतिष्ठा हो रही है। लोक–धर्म मे देवी--देवताओ का प्राचीन रूप शैक्षणिक चेतना एव वैज्ञानिक उन्मेष के कारण कुछ परिवर्तित हो रहा है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में टूटती हुई धार्मिक आस्था के स्वर अभिव्यक्त किये गये है। वस्तुत लोक–धर्म का आधार भय है, जो बहुत ऊपरी है। उनका धर्म कुछ भूत–प्रेत, देवी–देवता, जादू–टोने, बहुदेववाद तक ही सीमित है। धर्म की शक्तियाँ उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है। लोगो का उदात्त मूल्यो से विश्वास लगातार उठ रहा है। सेवा, त्याग, प्रेम, सहानुभूति आदि मानवीय गुण अप्रतिष्ठित हो रहे है। वर्तमान लोक–जीवन में ब्राह्याचारो की अतिशय व्याप्ति है। इन ब्राह्याचारो का मूल अज्ञान और अशिक्षा है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में इन ब्राह्याचारों का वर्णन बडो प्रचुरता से प्राप्त है। लोक–जीवन का यही प्रमाणिक यथार्थ है। वहाँ लोग धर्म को बाहरी आवरण के रूप मे ओढ़ते है। लोक चेतना मे देवी–देवताओ की पूजा, भूत–प्रत सम्बन्धी विश्वास, भौतिक–स्वार्थ की पूर्ति हेतु मनोतियाँ आदि ऐसी धारणाएँ है जो उन्हे परम्पराओ से मिली है। इन परम्पराओ से गाँव अभी हट नही पा रहे है। इसके दो कारण रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मे आये है– एक तो यह कि अभी शैक्षणिक विकास नही हो पाया है जिससे उनका मानसिक क्षितिज खुले, दूसरा अभी वे समस्त सुविधाएँ भी गाँव तक नही पहुँच पाई है जो इन अध विश्वासो को जड़मूल से उखाड़ती है। अत गाँव की य समस्त अज्ञानजनक विसगतियाँ सुविधाओं के अभावो मे पल रही है। भारतीय संस्कृति का जीवन्त रूप आज हमे गाँवों मे ही प्राप्त है। स्वतत्रता–परवर्ती लोक–परिवेश नवीन सन्दर्भो की उपस्थिति से परिवर्तन की ओर गतिशील है। वहाँ प्राचीन और नवीन मान्यताओ में संघर्ष चल रहा हे ओर दोनो के रामन्वय से नई सस्कृति का उदय हो रहा है। युगीन प्रभावों की परिणति से लोक–जीवन नई–नई भगिमाये प्राप्त कर रहा है। धूल–धूसरित वीरान धरती मे वैज्ञानिकता के कारण फूल खिलने लगे है। हरियाली का उत्सव मनने लगा है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मिथिलांचल मे प्रचलित साँस्कृतिक पर्वो, त्योहारो, मेलो, कथा वार्ताओ, कीर्तन एवं पाठो आदि के माध्यम से मिथिलाचल के सास्कृतिक व्यक्तित्व को निर्मित करते है। उत्सव, त्योहारों एव मेलो मे अब वह उल्लास दृष्टिगत नही होता। वहाँ नगई, गुण्डागर्दी खुलेआम होती है। गाँव का पढा–लिखा वर्ग इन मेले–तमाशो में एक अजनबी–सा दृष्टिगत होता है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य में मिथिलाँचल के लोक जीवन में प्रचलित लोक–गीतो, लोक–कलाओ, लोक कथाओ एव लोक नृत्यों आदि की बड़े सरस ढग से अभिव्यक्ति हुई है। नागार्जुन के कथा–साहित्य का जीवन

समस्याओ से बोझिल है। उनकी प्रवृत्ति मे लोक गीतो, लोक कथाओ, लाक ध्वनियो आदि के चित्रण के लिए स्थान नही था। इसीलिए उनक प्रयोग उनके कथा–साहित्य मे कम मिलते है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मे लोक–धर्मी शब्दो और वाक्यो के आडे तिरछे प्रयोगो से मिथिलाचल की भौगोलिक एव प्राकृतिक छवियाँ अपना अलग ही परिवेश निर्मित करती है। शैक्षणिक सन्दर्भ भी वहाँ की सांस्कृतिक–चेतना से जुडा हुआ एक अन्य सन्दर्भ है। रेणु और नागार्जुन ने मिथिलाचल के लोक–जीवन के शैक्षणिक अभावो की ओर भी दृष्टि खींची है। रेणु और नागार्जुन के कथा–साहित्य मे मिथिलांचल में शिक्षा–सुविधाओं की अपर्याप्तता, नारी शिक्षा आदि का व्यावहारिक मूल्याकन प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार रेणु और नागार्जुन ने स्वाधीनता परवर्ती मिथिलाचल के लोक–जीवन की वास्तविक शक्ति और अशक्ति को, समस्याओ और प्रश्नो का, मूल्यो और सम्बन्धो के परिस्थितिगत और चेतनागत अनेक आवर्तो की रूपायित कर अपने देश और समाज के यथार्थ के प्रति रचनात्मक दायित्व का निर्वाह किया है।

आज जन सामान्य के जीवन मे कृत्रिमता, एकाकीपन कुठा, स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार आदि का प्रवेश हो गया है तथा सहजता, सामूहिक एकता, प्रेम, करूणा एव मानवीय मूल्यो का निरन्तर ह्रास हो रहा है जिससे राष्ट्र के विकास को अपेक्षित गति नहीं मिल पा रही है। राष्ट्र के तीव्र विकास के लिए, सामूहिक एकता, सहजता, प्रेम और मानीवय मूल्यो को पुर्नस्थापित करने के लिए रेणु और नागार्जुन ने जो सुझाव दिये है उनको कार्य रूप मे परिणति करने की आवश्यकता है तभी राष्ट्र का चर्तुदिक विकास संभव हो सकेगा।

*****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ ।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

पत्र–पत्रिकाएँ

*****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

नागार्जुन

इमरतिया, राजपाल एण्ड सस दिल्ली प्र0स0 1968

उग्रतारा, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, द्वि0 स0 1991

कुम्भीपाक, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पु0 स0 1991

गरीबदास, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली पु0 सं0 1991

दुखमोचन, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली 1991

नई पौध, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1980

पारो, सम्पा0 कुलानन्द मिश्र संभावना प्रकाशन रेवती कुंज हापुड द्वि0सं0 1978

बाबा बटेसरनाथ, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, तृ0स0 1989

बलचनमा, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद नवाँ स0 1987

रतिनाथ की चाची, किताब महल प्रकाशन इलाहाबाद द्वि0 स0

वरूण के बेटे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1993

हीरक जयन्ती, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली प्र0स0 1962

फणीश्वरनाथ रेणु

कितने चौराहे, अनुपम प्रकाशन पटना एकादश स0 1988

कलंक मुक्ति, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्र0स0 1987

जुलूस, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली प्र0सं0 1987

डा0 ताराकान्त मिश्र	मैथिली लोक साहित्य का अध्ययन, जानकी प्रकाशन, पटना प्र0सं0 1935
डा0द्वारिका प्रसाद सक्सेना	भाषा विज्ञान के सिद्वान्त और हिन्दी भाषा, 1972 मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज मेरठ
देसाई ए0आर0	रूरल सोशियोलाजी इन इण्डिया, पापुलर प्रकाशन बम्बई, 1969
स0डा0 धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य कोष भाग–1, ज्ञान मण्डल वाराणसी हि0सं0 संवत 2020
कु0 नगीना जैन	आँचलिकता और हिन्दी उपन्यास, अक्षर प्रकाशन प्रा0लि0 नई दिल्ली प्र0स0 1976
पूर्णदेव	रेणु का आंचलिक कथा–साहित्य, आशा प्रकाशन गृह नई दिल्ली 1973
भूपेन्द्र नाथ सन्यास	आदिम मानव समाज, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली प्र0स0 1961
डा0 मक्खन लाल शर्मा	हिन्दी उपन्यास और समीक्षा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली प्र0सं01965
डा0 मृत्युजय उपाध्याय	हिन्दी के आँचलिक उपन्यास, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद प्र0सं0 1989
डा0 राधाकृष्णन	धर्म और समाज, राजपाल एण्ड सन्स नई दिल्ली 1961
डा0 रघुवश	कबीर एक नई दृष्टि, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद प्र0स0 19[illegible]1
डा0 राम बिहारी सिह तोमर	ग्रामीण समाज शास्त्र, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा
रामदरश मिश्र	सूखता हुआ तालाब, नेशनल पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली सं0 197[illegible]
रवीन्द्र भ्रमर	हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली
विजय शकर उपाध्याय और विजय प्रकाश शर्मा	भारत की जनजातीय संस्कृति मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी तृ0सं0 1995

वीरेन्द्र सिह — वृन्दावन लाल वर्मा ने उपन्यासो में लोक जीवन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

जी0ए0 गिर्यसन — विहार पीजेन्ट लाइफ पटना 1926

श्यामा चरण दुबे — मानव और सस्कृति, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्र0सं0 1993

शान्ति स्वरूप गुप्त — हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर, अशोक प्रकाशन दिल्ली प्र0सं0 1971

डा0 श्याम परमार — भारतीय लोक साहित्य, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली 1954 ई0

डा0 सच्चिदानन्द राय — हिन्दी उपन्यास सांस्कृतिक एव मानववादी चेतना, राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद प्र0स0 1979

सुरेश सिन्हा — हिन्दी उपन्यास, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद प्र0सं0 1972

सुरेश सिह — हिन्दी उपन्यास साहित्य मे मानवतावादी तत्वो का अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

डा0 सुरेन्द्र तिवारी — प्रेमचन्द और शरतचन्द के उपन्यास मनुष्य का बिम्ब, सुषमा प्रकाशन दिल्ली प्र0स0 1969

सर जान हाल्टन — बिहार, दि हर्ट आफ इण्डिया कलकत्ता 1949 प्र0स0

सुषमा धवन — हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1961

हजारी प्रसाद द्विवेदी — विचार और वितर्क, साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड इलाहाबाद 1954

सत्यमित्र दुबे — समाजशास्त्र एक परिचय, दिल्ली प्र0सं0 1989

डा0 त्रिलोचन पाण्डेय : लोक साहित्य का अध्ययन, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्र0सं0 1978

डा0 सत्येन्द्र — मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा प्र0स0 1960 ई0

डा0 सत्येन्द्र	लोक साहित्य विज्ञान, शिव लाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा प्र0स0 1962
डा0 ज्ञानचन्द गुप्त	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, अभिनव प्रकाशन नई दिल्ली प्र0सं0 1974

पत्र–पत्रिकाएँ

1 आजकल

2 जनपद

3 समाज

4 सम्मेलन पत्रिका

*****